हिन्दी
त्रैमासिक

रामकृष्ण
मिशन

विवेकानन्द आश्रम रायपुर

आश्रम के अकाल-सेवा-केन्द्र घोड़ारी घाट में
अकाल-पीड़ित अपंगों और अनाश्रितों के बीच
कम्बल-वितरण के दो दृश्य

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल – मई – जून

★ १९७५ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

वार्षिक ५)

एक प्रति १।।)

आजीवन सदस्यता शुल्क– १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२-००१ (म.प्र.)

फोन : १०४६

अनुक्रमणिका

—।०।—

१. मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण .. १
२. सबके दाता राम (श्रीरामकृष्ण के चुटकुले) .. २
३. अग्नि-मंत्र (विवेकानन्द के पत्र) .. ४
४. श्रीरामकृष्ण : स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में .. ११
५. साधना की पूर्व-तैयारियाँ (स्वामी यतीश्वरानन्द) .. २१
६. धर्म-प्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द ३०
७. श्री भरत का धर्म-बोध (पं. रामकिंकर उपाध्याय) .. ३६
८. स्वामी परमानन्द (डा० नरेन्द्र देव वर्मा) .. ५८
९. आत्मा का स्वरूप (गीताप्रवचन—२४)
(स्वामी आत्मानन्द) .. ७०
१०. शक्ति का उन्मेष (श्रीमती गोपीकुमारी बिड़ला) .. ८६
११. मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प (शरद्चन्द्र पेंढारकर) ९०
१२. सुख-मीमांसा (स्वामी बलरामानन्द) .. ९६
१३. अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द (ब्रह्मचारी देवेन्द्र) .. १०६
१४. श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में श्री सारदा देवी के
कुछ संस्मरण (सं० स्वामी चेतनानन्द) .. ११८
१५. अथातो धर्मजिज्ञासा १२३
१६. आश्रम समाचार (अकाल सेवा कार्य) .. १२६
१७. रामकृष्ण मिशन समाचार १२७

●

कवर चित्र परिचय — स्वामी विवेकानन्द

काशीपुर के उद्यान-भवन में, १६ अगस्त १८८६

मुद्रण स्थल : नरकेसरी प्रेस, रायपुर (म. प्र.)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(२९वीं तालिका)

९२४. हेडमास्टर, हिन्दी बालक बस्ती, अगराम, बैंगलोर-७।
९२५. श्री के. एस. भाटिया, ओव्हरसियर, राजनांदगांव।
९२६. श्री जगदीशप्रसाद साबू, साबू ब्रदर्स, राँची।
९२७. श्री अशोक कुमार चन्द्राकर, चारामा (बस्तर)।
९२८. श्री एस. एस. हिरवानी, भानुप्रतापपुर (बस्तर)।
९२९. श्री सच्चिदानन्द शर्मा, कोंडागांव (बस्तर)।
९३०. श्री राजेश कुमार सिंह, कांकेर (बस्तर)।
९३१. श्री सुन्दरलाल तिवारी, काँकेर।
९३२. श्री शैलेन्द्र श्रीवास्तव, वार्ड नं. १३, वर्धा (महाराष्ट्र)।
९३३. श्री अजयकुमार शर्मा, बरौंडा, राजिम (रायपुर)।
९३४. श्रीमती जमुना साहू, शाहवाड़ा (बस्तर)।
९३५. श्रीमती मालती मिश्रा, जगदलपुर (बस्तर)।
९३६. श्री चन्द्रशेखर वार्ष्णेय, बीजापुर (बस्तर)।
९३७. नगरपालिका गाँधी वाचनालय, कवर्धा।
९३८. डा० मंगलप्रसाद अग्रवाल, कोठीबाजार, बैतूल।
९३९. श्री धीरेन्द्र कुमार वर्मा, कार्यपालन यंत्री, दुर्ग।
९४०. श्री हरिहरभाई मनिभाई पटेल, गोंदिया।
९४१. श्री नारायण प्रसाद मिश्रा, तहसीलदार, कवर्धा।
९४२. श्री विद्यासागर चोबे, सर्किल इन्स्पेक्टर, कोंडागांव।
९४३. श्री विक्रमधर दीवान, पुलीस इन्स्पेक्टर, कोंडागांव।
९४४. श्री ए. एस. ठाकुर, जोनल एडमिनिस्ट्रेटर,
दंडकारण्य प्रोजेक्ट, कोंडागांव।

९४५. श्री आत्माराम पटेल, शामपुर, कोंडागाव ।
९४६. श्री दीपककुमारदुबे, आबकारी निरीक्षक, कोंडागाँव।
९४७. श्री कल्याणमल लोहिया, मैनेजर अर्चना पाटरीज, राजनाँदगाँव ।
९४८. सौ० कमल देशमुख, जेल रोड, रायपुर ।
९४९. प्राचार्य, शा. उ. माध्यमिक शाला, सिहावा (रायपुर)।
९५०. प्राचार्य, उच्चतर माध्यमिक शाला, कोटमी सुनार (बिलासपुर) ।
९५१. डा० भानुप्रताप सिंह, सक्ती (बिलासपुर) ।
९५२. श्री सुमन्त, एजेंट, स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, सक्ती ।
९५३. श्री गेंदसिंह बनाफर, अधिवक्ता, सक्ती ।
९५४. श्री बैजनाथ प्रसाद अग्रवाल, सक्ती ।
९५५. श्री बलभद्र प्रसाद वर्मा, राजापारा, सक्ती ।
९५६. श्री छोटेलाल सिंह, ठठारी (बिलासपुर) ।
९५७. श्री भुवनेश्वर सिंह, ओड़ेकेरा (बिलासपुर) ।
९५८. श्री तेजलाल अग्रवाल, कुन्दन मेटल इंडस्ट्रीज, सक्ती।
९५९. श्री के. के. शर्मा, अनुविभागीय अधिकारी, सक्ती ।
९६०. ठाकुर रघुनन्दन सिंह, तरौद (बिलासपुर) ।

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १३] अप्रैल - मई - जून ★ १९७५ ★ [अंक २

मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण

देहादिसर्वविषये परिकल्प्य रागं
बध्नाति तेन पुरुषं पशुवद्गुणेन ।
वैरस्यमत्र विषवत्सु विधाय पश्चा-
देनं विमोचयति तन्मन एव बन्धात् ॥

—यह मन ही देह आदि सब विषयों में राग की कल्पना करके उसके द्वारा रस्सी से पशु की भाँति पुरुष को बाँधता है और फिर इन विषवत् विषयों में विरसता उत्पन्न करके इसको बन्धन से मुक्त कर देता है ।

—विवेकचूड़ामणि, १७३

सबके दाता राम

तब की बात है, जब दिल्ली में बादशाह अकबर का राज्य था। पास के किसी जंगल में कुटिया बनाकर एक महात्मा रहा करते थे। उनकी साधुता की कीर्ति चारों ओर फैल गयी थी। इन निःस्पृह सन्त के दर्शन करने बहुत से लोग आया करते। कभी बहुत दूर से भी लोग उनके पास आ जाते। तब उन सबकी व्यवस्था करने में महात्माजी को कुछ कठिनाई का सामना करना पड़ता। एक दिन उन्होंने विचार किया, यदि पास में कुछ पैसा होता, तो यह अड़चन न होती। तब भक्तों की यथोचित सेवा हो पाती और उनके निवास आदि की कठिनाई भी कुछ हल हो सकती। पर पैसा कहाँ से आये? भक्तों से कहना उन्हें पसन्द न था। उन्होंने सोचा, क्यों न बादशाह अकबर के पास जाकर कुछ माँग लाऊँ--वह तो बड़ा दानी है और उसका दरबार सबके लिए सभी समय खुला रहता है।

महात्माजी बादशाह के शाही महल में पहुँचे। दरबानों ने रास्ता बता दिया। भीतर पहुँचकर महात्मा ने देखा कि बादशाह नमाज पढ़ रहे हैं और खुदा की इबादत कर रहे हैं। महात्मा एक कोने में बैठ गये। बादशाह ने इबादत के अन्त में खुदा से दुआ माँगी--"ऐ परवरदिगार! मुझे दौलत दे, ऐशो-आराम दे!" जब सन्त ने बादशाह की माँगों-भरी आवाज सुनी, तो वे उठ खड़े हुए और वहाँ से चलने को उद्यत हुए। पर

बादशाह ने उन्हें रुकने के लिए इशारा किया। जब बादशाह की इबादत खत्म हुई, तो वे महात्मा से बोले, "आप तो मुझसे मिलने आये थे, और क्या बात हुई कि बिना कुछ कहे-सुने उठकर जा रहे थे?" सन्त ने कहा, "बादशाह! अब उसकी चिन्ता मत करो। आया तो था एक काम से, पर अब मुझे चलना चाहिए।" अकबर बोले, "महाराज! यह कैसे हो सकता है? आप बता क्यों नहीं रहे हैं कि आप मेरे पास किस काम से आये थे? बिना बताये ऐसे कैसे चले जा रहे हैं?" जब बादशाह ने जोर दिया, तो सन्त बोले, "मेरी कुटिया में बहुत से दर्शनार्थी आया करते हैं, तो सोचा कि चलूँ, तुमसे कुछ धन माँग लूँ, जिससे दर्शनार्थियों की कुछ सेवा हो सके।" "तो आप मुझसे यह बिना कहे चले कैसे जा रहे थे?" अकबर ने पूछा। "बात यह है," सन्त बोले, "मैंने देखा कि तुम भी खुद भिखारी हो, भगवान् से धन-दौलत की भीख माँग रहे हो। मैंने सोचा कि भिखारी से भीख क्या माँगना? यदि भीख माँगनी ही है, तो भगवान् से क्यों न माँग लूँ!"

कथा का मर्म यह है कि हाथ यदि पसारना ही है, तो भगवान् के आगे पसारो। जीव भला किसे दे सकता है? जो ईश्वर शिशु के जन्म लेने से पूर्व ही माँ के स्तनों में उसके पोषण की व्यवस्था करके रखता है, वही अपनी सृष्टि के समस्त प्राणियों का पालन करता है। जो माँगना हो, उसी से माँगो।

●

अग्नि-मंत्र

(श्री आलासिंगा पेरुमल आदि मद्रासी शिष्यों को लिखित)

न्यूयार्क

१८ नवम्बर, १८९४

वीरहृदय युवको !

तुम्हारा ११ अक्तूबर का पत्र कल पाकर बड़ा ही आनन्द हुआ। यह बड़े सन्तोष की बात है कि अब तक हमारा कार्य बिना रोक-टोक के उन्नति ही करता चला आ रहा है। जैसे भी हो सके, हमें संघ को दृढ़प्रतिष्ठ और उन्नत बनाना होगा, और इसमें हमें सफलता मिलेगी--अवश्य मिलेगी। 'नहीं' कहने से न बनेगा। और किसी बात की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है केवल प्रेम, निश्छलता और धैर्य की। जीवन का अर्थ ही वृद्धि अर्थात् विस्तार यानी प्रेम है। इसलिए प्रेम ही जीवन है, यही जीवन का एकमात्र नियम है, और स्वार्थपरता ही मृत्यु है। इहलोक परलोक में यही बात सत्य है। परोपकार ही जीवन है, परोपकार न करना ही मृत्यु है। जितने नरपशु तुम देखते हो, उनमें नब्बे प्रतिशत मृत हैं, वे प्रेत हैं; क्योंकि मेरे बच्चो, जिसमें प्रेम नहीं है, वह जी भी नहीं सकता। मेरे बच्चो, सबके लिए तुम्हारे दिल में दर्द हो—गरीब, मूर्ख एवं पददलित मनुष्यों के दुःख को तुम महसूस करो, तब तक महसूस करो, जब तक तुम्हारे हृदय की धड़कन न रुक जाय, मस्तिष्क चकराने न लगे और तुम्हें ऐसा न प्रतीत होने लगे कि तुम पागल हो जाओगे--फिर

ईश्वर के चरणों में अपना दिल खोलकर रख दो, और तब तुम्हें शक्ति, सहायता और अदम्य उत्साह की प्राप्ति होगी। गत दस वर्षों से मैं अपना मूलमंत्र घोषित करता आया हूँ--संघर्ष करते रहो। और अब भी मैं कहता हूँ कि अविराम संघर्ष करते चलो। जब चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दीखता था, तब मैं कहता था—संघर्ष करते रहो; अब जब थोड़ा थोड़ा उजाला दिखायी दे रहा है, तब भी मैं कहता हूँ कि संघर्ष करते चलो। डरो मत, मेरे बच्चो। अनन्त नक्षत्रखचित आकाश की ओर भयभीत दृष्टि से ऐसे मत ताको, जैसे कि वह हमें कुचल ही डालेगा। धीरज धरो। देखोगे कि कुछ ही घण्टों में वह सबका सब तुम्हारे पैरों-तले आ गया है। धीरज धरो; न धन से काम होता है, न नाम से, न यश काम आता है, न विद्या; प्रेम ही से सब कुछ होता है। चरित्र ही कठिनाइयों की संगीन दीवारें तोड़कर अपना रास्ता बना सकता है।

अब हमारे सामने समस्या यह है,--कि स्वाधीनता के बिना किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं। हमारे पूर्वजों ने धार्मिक विचारों में स्वाधीनता दी थी और उसी से हमें एक आश्चर्यजनक धर्म मिला है। पर उन्होंने समाज के पैर बड़ी बड़ी जंजीरों से जकड़ दिये और इसके फलस्वरूप हमारा समाज, एक शब्द में, भयंकर और पैशाचिक हो गया है। पाश्चात्य देशों में समाज को सदैव स्वाधीनता मिलती रही, इसलिए उनके समाज को देखो। दूसरी तरफ उनके धर्म को भी देखो।

उन्नति की पहली शर्त है स्वाधीनता। जैसे मनुष्य को सोचने-विचारने और उसे व्यक्त करने की स्वाधीनता मिलनी चाहिए वैसे ही उसे खान-पान, पोशाक-पहनावा, विवाह-शादी, हर एक बात में स्वाधीनता मिलनी चाहिए, जब तक कि वह दूसरों को हानि न पहुँचाये।

हम मूर्खों की तरह भौतिक सभ्यता की निन्दा किया करते हैं। अंगूर खट्टे हैं न! उस मूर्खोचित बात को मान लेने पर भी यह कहना पड़ेगा कि सारे भारतवर्ष में लगभग एक लाख नर-नारी ही यथार्थ रूप से धार्मिक हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या इन कुछ लोगों की धार्मिक उन्नति के लिए भारत के तीस करोड़ अधिवासियों को बर्बरों का सा जीवन व्यतीत करना और भूखों मरना होगा? क्यों कोई भूखों मरे? मुसलमानों के लिए हिन्दुओं को जीत सकना कैसे सम्भव हुआ? यह हिन्दुओं के भौतिक सभ्यता का निरादर करने के कारण ही हुआ। सिले हुए कपड़े तक पहनना मुसलमानों ने इन्हें सिखलाया। क्या अच्छा होता, यदि हिन्दू मुसलमानों से साफ ढंग से खाने की तरकीब सीख लेते, जिसमें रास्ते की गर्द भोजन के साथ न मिलने पाती! भौतिक सभ्यता, यहाँ तक कि विलासमयता की भी जरूरत होती है—क्योंकि उससे गरीबों को काम मिलता है। रोटी! रोटी! मुझे इस बात का विश्वास नहीं है कि वह भगवान्, जो मुझे यहाँ पर रोटी नहीं दे सकता, वही स्वर्ग में मुझे अनन्त सुख देगा! राम कहो! भारत को उठाना होगा, गरीबों

को भोजन देना होगा, शिक्षा का विस्तार करना होगा और पुरोहित-प्रपंच की बुराइयों का निराकरण करना होगा। पुरोहित-प्रपंच की बुराइयों और सामाजिक अत्याचारों का कहीं नाम-निशान न रहे! सबके लिए अधिक अन्न और सबको अधिकाधिक सुविधाएँ मिलती रहें। हमारे मूर्ख नौजवान अंग्रेजों से अधिक राजनीतिक अधिकार पाने के लिए सभाएँ आयोजित करते हैं। इस पर अंग्रेज केवल हँसते हैं। स्वाधीनता पाने का अधिकार उसे नहीं, जो औरों को स्वाधीनता देने को तैयार न हो। मान लो कि अंग्रेजों ने तुम्हें सब अधिकार दे दिये, पर उससे क्या फल होगा? कोई न कोई वर्ग प्रबल होकर सब लोगों से सारे अधिकार छीन लेगा और उन लोगों को दबाने की कोशिश करेगा। और गुलाम तो शक्ति चाहता है दूसरों को गुलाम बनाने के लिए।

इसलिए हमें वह अवस्था धीरे धीरे लानी पड़ेगी—अपने धर्म पर अधिक बल देते हुए और समाज को स्वाधीनता देते हुए। प्राचीन धर्म से पुरोहित-प्रपंच की बुराइयों को एक बार उखाड़ दो, तो तुम्हें संसार का सबसे अच्छा धर्म उपलब्ध हो जायगा। मेरी बात समझते हो न? भारत का धर्म लेकर एक यूरोपीय समाज का निर्माण कर सकते हो? मुझे विश्वास है कि यह सम्भव है और एक दिन ऐसा अवश्य होगा।

इसके लिए सबसे अच्छा उपाय मध्य भारत में एक उपनिवेश की स्थापना करना है, जहाँ तुम अपने विचारों

का स्वतंत्रतापूर्वक अनुसरण कर सको। फिर ये ही मुट्ठी भर लोग सारे संसार में अपने विचार फैला देंगे। इस बीच एक मुख्य केन्द्र बनाओ और भारत भर में उसकी शाखाएँ खोलते जाओ। अभी केवल धर्मभित्ति पर ही इसकी स्थापना करो और अभी उथल-पुथल मचानेवाले सामाजिक सुधार का प्रचार मत करो, साथ ही इतना ध्यान रहे कि किसी मूर्खता-प्रसूत कुसंस्कारों को सहारा न देना। जैसे पूर्वकाल में शंकराचार्य, रामानुज तथा चैतन्य आदि आचार्यों ने सबको समान समझकर मुक्ति में सबका समान अधिकार घोषित किया था, वैसे ही समाज को पुनः गठित करने की कोशिश करो।

उत्साह से हृदय भर लो और सब जगह फैल जाओ। काम करो, काम करो। नेतृत्व करते समय सबके दास हो जाओ, निःस्वार्थ होओ और कभी एक मित्र को पीठ पीछे दूसरे की निन्दा करते मत सुनो। अनन्त धैर्य रखो। तभी सफलता तुम्हारे हाथ आयगी। भारत का कोई अखबार या किसी के पते अब मुझे भेजने की आवश्यकता नहीं। मेरे पास उनके ढेर जमा हो गये; अब बस करो। अब इतना ही समझो कि जहाँ जहाँ तुम कोई सार्वजनिक सभा बुला सके, वहीं काम करने का तुम्हें थोड़ा मौका मिल गया। उसी के सहारे काम करो। काम करो, काम करो, औरों के हित के लिए काम करना ही जीवन का लक्षण है। मैंने श्री अय्यर को अलग पत्र नहीं लिखा, पर अभिनन्दन-पत्र का जो उत्तर मैंने दिया, शायद वही

पर्याप्त हो। उनसे और मेरे अन्यान्य मित्रों से मेरा हार्दिक प्रेम, सहानुभूति और कृतज्ञता ज्ञापन करना। वे सभी महानुभाव हैं। हाँ, एक बात के लिए सतर्क रहना—दूसरों पर अपना रोब जमानें की कोशिश मत करना। मैं सदा तुम्हीं को पत्र भेजता हूँ, इसलिए तुम मेरे अन्य मित्रों से अपना महत्त्व प्रकट करने की फिक्र में न रहना। मैं जानता हूँ कि तुम इतने निर्बोध न होगे, पर तो भी मैं तुम्हें सतर्क कर देना अपना कर्तव्य समझता हूँ। सभी संगठनों का सत्यानाश इसी से होता है। काम करो, काम करो, दूसरों की भलाई के लिए काम करना ही जीवन है।

मैं चाहता हूँ कि हममें किसी प्रकार की कपटता, कोई मक्कारी, कोई दुष्टता न रहे। मैं सदैव प्रभु पर निर्भर रहा हूँ, सत्य पर निर्भर रहा हूँ, जो कि दिन के प्रकाश की भाँति उज्ज्वल है। मरते समय मेरी विवेक-बुद्धि पर यह धब्बा न रहे कि मैंने नाम या यश पाने के लिए, यहाँ तक कि परोपकार करने के लिए दुरंगी चालों से काम लिया था। दुराचार की गन्ध या बदनीयती का नाम तक न रहने पाये।

किसी प्रकार का टालमटोल या छिपे तौर से बदमाशी या गुप्त शठता हममें न रहे--पर्दे की आड़ में कुछ न किया जाय। गुरु का विशेष कृपापात्र होने का कोई भी दावा न करे—यहाँ तक कि हममें कोई गुरु भी न रहे। मेरे साहसी बच्चो, आगे बढ़ो--चाहे धन आये या न आये, आदमी मिलें या न मिलें। क्या तुम्हारे पास प्रेम है? क्या तुम्हें ईश्वर पर भरोसा है? बस, आगे बढ़ो, तुम्हें कोई न रोक सकेगा।

भारत से प्रकाशित थियोसॉफिस्टों की पत्रिका में लिखा है कि थियोसॉफिस्टों ने ही मेरी सफलता की राह साफ कर दी थी। ऐसा! क्या बकवास है!—थियोसॉफिस्टों ने मेरी राह साफ की!!

सतर्क रहो! जो कुछ असत्य है, उसे पास न फटकने दो। सत्य पर डटे रहो; बस, तभी हम सफल होंगे—शायद थोड़ा अधिक समय लगे, पर सफल हम अवश्य होंगे। इस तरह काम करते जाओ कि मानो मैं कभी था ही नहीं। इस तरह काम करो कि मानो तुममें से हर एक के ऊपर सारा काम आ पड़ा है। भविष्य की पचास सदियाँ तुम्हारी ओर ताक रही हैं, भारत का भविष्य तुम पर ही निर्भर है! काम करते जाओ। पता नहीं, कब मैं स्वदेश लौटूँगा। यहाँ काम करने का बड़ा क्षेत्र है। भारत में लोग अधिक से अधिक मेरी प्रशंसा भर कर सकते हैं, पर वे किसी काम के लिए एक पैसा भी न देंगे, और दें भी तो कहाँ से? वे स्वयं भिखारी हैं न? फिर गत दो हजार या उससे भी अधिक वर्षों से वे परोपकार करने की प्रवृत्ति ही खो बैठे हैं। 'राष्ट्र', 'जनसाधारण' आदि के विचार वे अभी अभी सीख रहे हैं। इसलिए मुझे उनकी कोई शिकायत नहीं करनी है। आगे और भी विस्तार से लिखूँगा। तुम लोगों को सदैव मेरा आशीर्वाद।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

●

श्रीरामकृष्ण : स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में

(स्वामी विवेकानन्द ने विभिन्न स्थलों पर श्रीरामकृष्ण देव के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, प्रस्तुत लेख उसका संग्रह है। मूल अंग्रेजी लेख 'वेदान्त केसरी' के जनवरी १९६३ अंक में प्रकाशित हुआ था, जहाँ से वह साभार गृहीत हुआ है। —सं०)

'प्रारम्भ में शब्द था और शब्द ईश्वर के साथ था, तथा वह शब्द ही ईश्वर था।' हिन्दू इसे माया या ईश्वर की अभिव्यक्ति कहकर पुकारता है, क्योंकि यह ईश्वर की ही शक्ति है। वह सच्चिदानन्द जब विश्व-ब्रह्माण्ड में झलकता है, तो उसे हम प्रकृति कहते हैं। शब्द की दो अभिव्यक्तियाँ हैं—साधारण अभिव्यक्ति है प्रकृति और विशेष अभिव्यक्ति है ईश्वर के महान् अवतार—राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा और रामकृष्ण। ये अवतार धर्म प्रदान कर सकते हैं; एक दृष्टि मात्र, एक स्पर्श ही इसके लिए पर्याप्त है। श्रीरामकृष्ण एक क्रान्ति ले आये हैं—न केवल भारत में, वरन् सम्पूर्ण जगत् में।

श्रीरामकृष्ण ऐसे कट्टर आचारनिष्ठ ब्राह्मण की सन्तान थे, जो एक विशेष उच्च वर्ण के ब्राह्मणों को छोड़ अन्य किसी से दान ग्रहण नहीं करते थे। न वे कोई काम-धन्धा करते, न किसी मन्दिर में पुजारी का काम; न किताबें बेचते और न किसी की चाकरी करते। वे बस आकाशवृत्ति से रहते और उसमें भी किसी 'पतित' ब्राह्मण से दान न लेते।

परिवार की अतिशय निर्धनता के कारण श्रीरामकृष्ण

को अपनी किशोरावस्था में एक ऐसे मन्दिर का पुजारी-पद स्वीकार करना पड़ा, जो जगन्माता को समर्पित था, जो प्रकृति या काली भी कहलाती है। काली-माता की प्रतिदिन की पूजा-अर्चना ने इस युवा पुजारी के हृदय में इतना तीव्र अनुराग और भक्ति जगा दी कि उसके लिए मन्दिर में नित्य-पूजा करना सम्भव न रहा, इसलिए उसनें अपने सारे कर्तव्यों को तिलांजलि दे दी और मन्दिर के प्रांगण में स्थित वनस्थली में एकान्तवास करते हुए उसने अपने आपको पूरी तरह से ध्यान में डुबो दिया। यह वनस्थली ठीक गंगाजी के तट पर स्थित थी और एक दिन उसकी एक तीव्र लहर ने उसके चरणों के पास पर्याप्त सामग्री ला दी, जिससे वह एक छोटी सी कुटी का निर्माण कर सके। उस कुटी में रहकर अपने शरीर एवं अन्य सबके प्रति उदासीन हो वह कालीमाता के लिए रोता, प्रार्थना करता। एक सम्बन्धी दिन में एक वार उसे भोजन करा देता और अन्य देखभाल करता। कुछ समयोपरान्त एक महिला संन्यासिनी--एक भैरवी ब्राह्मणी--उसे 'माता' को प्राप्त करने में सहायता करने आयी। जिस गुरु की उसे आवश्यकता होती, वह स्वयं ही अपने से वहाँ पहुँच जाता। प्रत्येक सम्प्रदाय का कोई सन्त वहाँ आ उपस्थित होता और उसे अपने सम्प्रदायविशेष की शिक्षा देने के लिए प्रस्तुत होता। वह भी उनके उपदेशों को आग्रहपूर्वक सुना करता।

श्रीरामकृष्ण का जीवन एक ऐसा अलौकिक ज्योति-

स्तम्भ था, जिसके आलोक में हम हिन्दू धर्म के सम्पूर्ण विषय-क्षेत्र को यथार्थ में समझ सकते हैं। शास्त्रों में वर्णित सैद्धान्तिक ज्ञान के वे जीवन्त प्रस्तुतीकरण थे। अपने जीवन से उन्होंने प्रत्यक्ष दिखला दिया कि ऋषि-मुनि और अवतार वास्तव में क्या सिखाना चाहते थे। ग्रन्थ तो सिद्धान्त मात्र थे और वे थे अनुभूति। इस व्यक्ति ने अपने पचास वर्ष के जीवन में राष्ट्र के आध्यात्मिक जीवन के पांच हजार वर्ष जी लिये और इस प्रकार अपने आपको आनेवाली पीढ़ियों के लिए उदाहरण के रूप में रख दिया। उनका अवस्था या स्तर सम्बन्धी सिद्धान्त यह था कि हम दूसरों के प्रति केवल सहिष्णु ही न बनें, वरन् उन्हें अपने गले से लगा लें, और यह कि सत्य ही सभी धर्मों का आधार है। केवल इस सिद्धान्त के द्वारा ही वेदों को समझाया जा सकता है और शास्त्रों में संगति बिठायी जा सकती है।

श्रीरामकृष्ण को हमने सविकल्प और निर्विकल्प दोनों ही प्रकार की समाधि में अनेक बार जाते देखा है। इन अवस्थाओं को पाने के लिए उन्हें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता था। वे तो उन्हें तत्काल, अपने ही आप प्राप्त हो जाती थीं। वह एक आश्चर्यजनक घटना थी। उन्हें देखकर ही हम इन बातों को ठीक से समझ सके।

श्रीरामकृष्ण एक अद्भुत माली थे। तभी तो विविध पुष्पों से उन्होंने गुलदस्ता सजाया और अपने संघ का निर्माण किया। नाना प्रकार के अलग अलग मत और

विचार इसमें आकर सम्मिलित हो गये हैं और अनेक तो आगे आएँगे। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे—'जिसने ईश्वर को एक दिन भी सच्चे हृदय से पुकारा है, वह यहाँ जरूर आएगा।' जो भी श्रीरामकृष्ण के समीप गये, वे आध्यात्मिक रूप से उन्नत हुए, हो रहे हैं और होंगे। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि पिछले कल्प के पूर्णत्व-प्राप्त ऋषि नये कल्प में मानव-शरीर धारण कर अवतार के साथ इस धरा पर आते हैं। क्या यह सम्भव है कि कोई काम और कांचन के मार्ग पर चलते हुए श्रीरामकृष्ण को ठीक से समझ सके? अथवा क्या यह कभी सम्भव होगा?

यह नहीं कहा जा सकता कि श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में गृहस्थ भक्तगण जो कुछ प्रचार कर रहे हैं, वह पूर्ण-रूपेण गलत है; पर हां, वे श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में जो कुछ कहते हैं, वह केवल आंशिक रूप से सत्य है। अपनी क्षमता के अनुसार जिसने उन्हें जैसा समझा है, उसी प्रकार वह उनके सम्बन्ध में चर्चा करता है। ऐसा करना कोई बुरा नहीं है। परन्तु उनका कोई भक्त यदि यह कहे कि उसने जो समझा है, वही एकमात्र सत्य है, तो वह दया का पात्र है। वे क्या थे, पूर्व के कितने अवतारों के घनीभूत मूर्तरूप थे, यह तो हम सारा जीवन आध्यात्मिक साधना में खपाने के बाद भी कुछ समझ न पाये। जिसकी जितनी क्षमता है, उसे उसी परिमाण में उन्होंने विचारों से भरा। उनकी आध्या-त्मिकता के उच्छलित सागर की हल्की सी बौछार भी यदि

अनुभव में उतर जाय, तो वह मानव को देवता बना देगी। विश्वजनीन विचारों का ऐसा संश्लेषण और समन्वय तुम संसार के इतिहास में और नहीं पाओगे। इसी से समझ लो कि श्रीरामकृष्ण के रूप में कौन आविर्भूत हुआ था।

इसमें मुझे तनिक भी संशय नहीं है कि रामकृष्ण परमहंस साक्षात् ईश्वर के अवतार थे। रामकृष्ण परमहंस को पहले समझे बगैर वेद, वेदान्त, भागवत और अन्य पुराणों के सार को समझना सम्भव नहीं है। वे वेदों एवं तत्प्रतिपादित लक्ष्य के जीवन्त भाष्य थे। वे आधुनिकतम हैं और हैं सबसे पूर्ण——ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, औदार्य और प्राणिमात्र की सेवा-भावना के घनीभूत विग्रह। जो उन पर श्रद्धा न कर सका, उसका तो जन्म ही वृथा है! मेरा अहोभाग्य है कि जन्म-जन्मान्तर से में उनका अनुचर हूँ। उनका एक शब्द भी मेरे लिए वेद-वेदान्त से अधिक महत्त्व रखता है। श्रीरामकृष्ण अपने जीवनकाल में ही विश्वविद्यालय के प्रकाण्ड विद्वानों और दिग्गजों द्वारा ईश्वरावतार के रूप में पूजित हुए।

हममें से किसी ने भी श्रीरामकृष्ण को पूर्णतया नहीं समझा है। इसीलिए मैं कहीं भी और कभी भी उनके सम्बन्ध में कुछ कहने का साहस नहीं कर पाता। एकमात्र वे ही जानते हैं कि वे वस्तुतः क्या थे; उनका शरीर तो मानव का था, परन्तु बाकी सब दूसरों से पूर्णतया भिन्न था। तथापि मैं इतना तो जानता हूँ कि भगवान् श्रीरामकृष्ण पूर्व में हुए समस्त अवतारों में श्रेष्ठ हैं।

यथार्थ में, उनको मैं बहुत थोड़ा समझ पाया हूँ। वे मुझे इतने महान् दिखायी देते हैं कि जब भी उनके सम्बन्ध में मुझे कुछ बोलना होता है, तो मुझे भय होता है कि कहीं मैं किसी सत्य को ठीक से समझने में चूक न जाऊँ, कहीं मेरा अल्प सामर्थ्य चूक न जाये, कहीं उनकी प्रशस्ति करने जाकर उनके चित्र को अपने रंगों में ऐसा न भर दूँ कि उनको छोटा बना डालूँ।

अनेक बार प्राचीन काल के मनीषीगण भी उपनिषदों में निहित सामंजस्य को स्वयं नहीं समझ पाये थे। अनेक बार, ये मनीषी इतना अधिक झगड़ते थे कि एक कहावत ही बन गयी--'नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्'--ऐसा कोई मुनि नहीं है, जिसका मत भिन्न न हो! परन्तु समय की आवश्यकता है कि उपनिषदों के इस अन्तर्निहित सामंजस्य और समन्वय भाव को अधिक उपयुक्त ढंग से प्रस्तुत किया जाये, चाहे वे द्वैत-परक हों या अद्वैत-परक, विशिष्टाद्वैत-परक हों या अन्य कुछ।

एक ऐसे व्यक्ति के जन्म के लिए उपयुक्त समय आ गया था, जिसमें एक ही देह के भीतर शंकराचार्य की अपूर्व मेधा हो और चैतन्य का अनन्तविस्तारित हृदय; जो सभी सम्प्रदायों के माध्यम से एक ही शक्ति, एक ही ईश्वर को कार्य करते देखे; जो सभी जीवों में ईश्वर को देखे; जिसका हृदय दीन, अशक्त, अछूत, पतित, सबके लिए रोए, चाहे वह भारत का वासी हो या बाहर

का; और साथ ही जिसकी अपूर्व विलक्षण मेधा ऐसे उदात्त विचारों को जन्म दे, जो भारत के ही नहीं अपितु उसके बाहर के भी समस्त संघर्षरत धर्म-सम्प्रदायों के बीच समन्वय स्थापित कर एक अभूतपूर्व सामंजस्य ला दें, और इस प्रकार हृदय और मस्तिष्क से युक्त विश्वजनीन धर्म को जन्म प्रदान करें। ऐसे व्यक्ति का आविर्भाव हुआ, और उसके चरणों में बरसों बैठने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। समय ऐसे एक व्यक्ति के जन्म के लिए परिपक्व हो चुका था, और वह आया; उसका सबसे आश्चर्यजनक पक्ष यह था कि उसके जीवन के कार्य एक ऐसे नगर के समीप सम्पन्न हुए, जो पाश्चात्य विचारों से भरा हुआ था और पश्चिमी सभ्यता के पीछे पागल था तथा जो भारत के अन्य नगरों की अपेक्षा यूरोपीय प्रभाव से सर्वाधिक आक्रान्त था। वहाँ वह रहता और वह भी बिना किसी पुस्तकीय ज्ञान के; परन्तु हमारे विश्वविद्यालय के अतिशय प्रतिभाशाली पदवीधारियों ने उसमें एक बौद्धिक दिग्गज के दर्शन किये थे। वह एक विलक्षण पुरुष था, जिसे संसार ने श्रीरामकृष्ण परमहंस के नाम से जाना। इस पुरुष के पीछे जो दैवी शक्ति कार्यरत थी, उस पर गौर करो। एक निर्धन ब्राह्मण का पुत्र, एक अनजान छोटे से ग्राम में जन्मा, अजाना और अपरिचित, आज यूरोप और अमेरिका में हजारों के द्वारा पूजा जा रहा है तथा कल और भी हजारों द्वारा पूजित होगा।

कोई चरित्र इतना पूर्ण नहीं हुआ, जितना श्रीराम-

कृष्ण थे; और वही हमारा केन्द्र हो, जिसके चारों ओर हम एकत्र हों। शरीर को अनुशासित और मन को संयमित कर उन्होंने आध्यात्मिक जगत् में एक अद्भुत विचक्षण दृष्टि पायी थी। उनका चेहरा शिशुवत् सुकुमारता, नितान्त निरभिमानिता और उल्लेखनीय माधुर्य से सदैव खिला रहता। उनकी ओर देखने पर कोई भी बिना प्रभावित हुए न रह पाता।

आध्यात्मिक भावराज्य के अधीश्वर श्रीरामकृष्ण ने कम नहीं, पूरे अठारह भावों में पूर्णता प्राप्त की थी! वे यह भी कहा करते थे कि यदि वे आध्यात्मिक भावों के इस खेल को न खेलते, तो उनका शरीर न टिक पाता।

एक दिन जब वे काशीपुर उद्यान में रह रहे थे और उनके देहत्याग का भय सन्निकट था, मैं उनकी शय्या के बाजू में बैठकर अपने मन में कह रहा था, "अच्छा, यदि इस अवस्था में आप अभी यह घोषणा करें कि आप ईश्वर हैं, तभी मैं विश्वास करूँगा कि आप सचमुच साक्षात् ईश्वर हैं।" यह घटना उनके देहत्याग से मात्र दो दिन पूर्व की है। तत्क्षण उन्होंने एकाएक मेरी ओर दृष्टि उठायी और कहा, "जो राम था, जो कृष्ण था, वही इस समय इस देह में रामकृष्ण है। और यह महज तुम्हारी वेदान्त की दृष्टि से नहीं।" यह सुनकर मैं तो स्तब्ध रह गया। अपने प्रभु के मुखारविन्द से प्रत्यक्ष अनेक बार सुनने के पश्चात् भी हम लोगों का विश्वास प्रगाढ़ नहीं हो पाया——हमारे मन में अभी भी कभी कभी संशय

और निराशा के बादल छा जाते हैं; तब फिर उन लोगों के बारे में भला क्या कहें, जो समझने में विलम्ब करते हैं? किसी अपने जैसे ही देहधारी मनुष्य को ईश्वर कहकर घोषित करना और उस पर विश्वास करना सच-मुच में अत्यन्त कठिन कार्य है। हम 'पूर्ण पुरुष' या 'ब्रह्मवेत्ता' कहने की दूरी तक जा सकते हैं। पर वस्तुत: इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि हम उन्हें सन्त या ब्रह्मवेत्ता कहकर पुकारते हैं या अन्य कुछ और। तथापि मेरी एक बात सुन लो——श्रीरामकृष्ण के सदृश पूर्ण पुरुष इस धरा पर अभी तक अवतीर्ण नहीं हुआ। संसार के इस गहन अन्धकार में ये महापुरुष आज के युग के लिए प्रकाश के जाज्वल्यमान स्तम्भ हैं! और इनके जीवनालोक मात्र से ही जीव अब भव-सागर को पार कर लेगा।

अतएव यह महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त होता है कि श्रीरामकृष्ण का कोई सानी नहीं है; संसार में उनके जैसी अभूतपूर्व पूर्णता, समस्त जीवों के लिए बिना किसी भेदभाव और पक्षपात के उनके जैसी असीम करुणा और बद्ध जीवों के लिए उनके जैसी गहरी सहानुभूति कहीं अन्यत्र नहीं दिखायी पड़ती। या तो वे अवतार हैं, जैसा कि वे स्वयं कहते थे, अथवा नित्य पूर्ण पुरुष हैं, जिसे वेदान्त में मुक्तपुरुष कहा गया है, जो जीवों के कल्याण के लिए देह धारण करता है। यह मेरा अटल विश्वास है। और इसी प्रकार के दिव्य पुरुष की आराधना का पतंजलि ने अपने 'योगसूत्र' में (१/३७) निर्देश दिया

है-- 'वीतरागविषयं वा चित्तम्'--'लक्ष्य की प्राप्ति वीतरागी हृदय पर ध्यान द्वारा भी की जा सकती है।'

अपने जीवित रहते उन्होंने मेरी एक भी प्रार्थना को नहीं ठुकराया; मेरे अनगिनत अपराधों को उन्होंने क्षमा किया है; इतना प्रगाढ़ प्रेम तो मेरे माता-पिता का भी मेरे प्रति नहीं था। इसमें कोई कवित्व नहीं, कोई अतिशयोक्ति नहीं। यह प्रत्यक्ष सत्य है और उनका हर शिष्य इसे जानता है। भयावह परिस्थितियों में, प्रबल आकर्षणों के बीच मैं तीव्र व्याकुलता से रोया हूँ और मैंने प्रार्थना की है, "हे ईश्वर, मेरी रक्षा करो," पर कहीं से कोई सुनवाई नहीं हुई; किन्तु इस अद्भुत सन्त ने, या अवतार ने, या वह जो भी हो उसने हृदय की गहराइयों को पढ़ लेनेवाली अपनी शक्ति से मेरी सारी वेदना जान ली, और मुझे अपने समीप बुलवाकर, मेरी अनिच्छा के बावजूद उस वेदना को दूर कर दिया।

•

मैंने इतनी तपस्या करके यही सार समझा है कि जीव-जीव में वे अधिष्ठित हैं; इसके अतिरिक्त ईश्वर और कुछ भी नहीं है। जो जीवों के प्रति दया करता है, वही व्यक्ति ईश्वर की सेवा कर रहा है।

-- स्वामी विवेकानन्द

साधना की पूर्व-तैयारियाँ

स्वामी यतीश्वरानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी यतीश्वरानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ और मिशन के उपाध्यक्ष थे। उनके लेखों में अध्यात्म विद्या को व्यावहारिक जीवन में उतारने की कला होती है। प्रस्तुत लेख मूल अँगरेजी में दो भागों में 'वेदान्त केसरी' के मई और जून, १९३८ के अंकों में प्रकाशित हुआ था, जहाँ से वह साभार गृहीत हुआ है।—सं०)

जो संसार में रहते हुए धार्मिक विचारों के नहीं हैं, वे संसार का त्याग करने पर भी आध्यात्मिक विचार-वाले नहीं बन सकते। यदि हम आध्यात्मिक जीवन का बीजारोपण जीवन के आरम्भ में ही नहीं करते, तो परवर्ती जीवन में आध्यात्मिक प्रवृत्ति का निर्माण करना सम्भव नहीं है।

संसारी लोग चाहे जो कहें, व्यक्ति को अपने आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ शीघ्रातिशीघ्र कर देना चाहिए। दुनियादार लोगों की चतुराई कौए की सी होती है। कौआ अपने को बहुत चतुर समझता है, किन्तु गन्दगी और मैला ही खाता है। सांसारिक लोग तुमसे हमेशा यही कहेंगे कि आध्यात्मिक जीवन के लिए अभी तो तुम्हारे पास काफी समय है। पहले यौवन का उपभोग कर लो; बाद में बुढ़ापे में धार्मिक साधनाओं और आध्यात्मिक जीवन के लिए पर्याप्त समय मिलेगा। किन्तु यदि इस सुझाव का अनुसरण किया गया, तो क्या होगा? जब तुम वृद्ध हो जाओगे, तब तुम पाओगे कि पुराने संस्कार

इतने गहरे हो गये हैं कि उन्हें मिटाना सम्भव नहीं है; तुम देखोगे कि तुम अपनी प्रवृत्तियों और आवेगों के दास हो गये हो और जैसा तुम चाहते हो, वैसा अब नहीं कर सकते हो। तुम शारीरिक अथवा मानसिक रूप से उच्च और पवित्रतर जीवन व्यतीत करना असम्भव पाओगे। अतः हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि मुक्ति के लिए अभी से प्रयत्न प्रारम्भ कर दें तथा जो समय हमें मिला है, उसका सर्वोत्तम उपयोग कर लें।

पवित्रता भगवत्-कृपा की शर्त है। पवित्रता और यथार्थ वैराग्य के बिना किसी भी प्रकार का आध्यात्मिक जीवन अथवा प्रयास नहीं सध सकता। भगवत्-कृपा साधक के पास पुरुषार्थ के रूप में आती है। इस इन्द्रिय-गोचर संसार से उच्चतर किसी स्थायी वस्तु के लिए प्रयास भगवत्कृपा से ही सम्भव होता है। संसार में अनेकानेक लोग ऐसे हैं, जो आध्यात्मिक जीवन की परवाह नहीं करते। अतएव किसी में आध्यात्मिक जीवन की लालसा का उठना वस्तुतः ईश्वरीय कृपा का ही फल है।

कुछ लोग नियति की बात करते हैं, तो कुछ लोग पुरुषार्थ की, जबकि कुछ अन्य लोग कहते हैं, "हाँ, यह सच है कि सब कुछ ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है, किन्तु प्रभु चाहते हैं कि मैं अपनी ओर से पूरा प्रयत्न करूँ। स्व-प्रयत्न मेरे भाग्य की अभिव्यक्ति के रूप में मुझे प्राप्त होता है। वह तो ईश्वरीय इच्छा ही है, जो मुझमें पुरुषार्थ की प्रेरणा जगाती है।"

प्रत्यक्ष आध्यात्मिक जीवन में हम अनुभव करते हैं कि जब तक हम चरम प्रयास नहीं करते, प्रभु की कृपा हम पर नहीं उतरती ।

हमें कुछ हद तक अपने मन को बाँटना आना चाहिए। मन में ऐसी आश्चर्यजनक क्षमता है कि हम उसके एक भाग को प्रभु से चिपकाकर रख सकते हैं, चाहे हम किसी भी कार्य में रत क्यों न हों। यह अपने आप में एक बड़ी साधना है। लौकिक कार्य में व्यस्त रहते हुए भी, मन को सांसारिक विचारों में अथवा लौकिक सम्बन्धों या आसक्तियों में फँसने न देकर ईश्वर-चिन्तन में लगाये रखना, उसे लक्ष्य के स्मरण में बांधे रखना—यह आध्यात्मिक जीवन की आवश्यक शर्त है।

अथक और अविरत अभ्यास के द्वारा हम ऐसी मनोवृत्ति बना सकते हैं, जो हमें यह सोचने और अनुभव करनें दे कि हम जो कुछ करते हैं, वह प्रभु की ही सेवा है तथा हमें अपने कार्य के फल पर कोई अधिकार नहीं है—"यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ।" यह सेवा भौतिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक हो सकती है।

यह बिलकुल सत्य है कि सभी परमेश्वर के रूप हैं, लेकिन कुछ रूपों को सुरक्षित दूरी से ही नमस्कार करना अच्छा है। परमेश्वर के कुछ रूप ऐसे हैं, जिनसे तुम्हें बचना चाहिए, तथा कुछ अन्य के अधिक निकट साधना-काल में नहीं जाना चाहिए। सदैव सजग और चौकन्ने रहो। वस्तुओं और व्यक्तियों द्वारा अपने मन पर हो

रही प्रतिक्रियाओं पर सदा निगरानी रखो, तथा उनके साथ अपने सम्बन्धों को इन प्रतिक्रियाओं द्वारा ही निर्दिष्ट होने दो। ऐसी सभी बातों से बचो, जो पूर्व स्मृतियों और तुम्हारे पूर्व-जीवन सम्बन्धी विचारों को उभारती हों। ऐसी सावधानी बरते विना तुम मानसिक पवित्रता प्राप्त नहीं कर सकते।

आध्यात्मिक जीवन में भले ही तुम दूसरों के साथ अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों को काट देते हो, पर तुम व्यापक स्नेह और सहानुभूति अर्जित कर लेते हो।

यदि कोई व्यक्ति तुम्हें आकृष्ट करता हो, तो मन को किसी उच्चतर दिशा में मोड़ दो; एक उच्चतर आकर्षण का केन्द्र निर्मित कर लो। तुम कुछ समय के लिए अपने में उस व्यक्ति के प्रति अरुचि अथवा घृणा का भाव पैदा कर सकते हो, जिससे वह तुम्हारे लिए अपना सारा आकर्षण खो दे। बाद में इस घृणा को मिटाया जा सकता है। तब तुम उसे उसी उदासीन भाव से देखने में समर्थ होओगे, जिस भाव से एक अपरिचित व्यक्ति को देखते हो, जिसे तुमने पहले कभी नहीं जाना था।

किसी उच्चतर वस्तु के प्राप्त हो जाने पर निम्नतर वस्तुएँ व्यक्ति के लिए अपना आकर्षण स्वाभाविक रूप से खो देती हैं, और इस प्रकार उससे अलग हो जाती हैं।

आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ में हमें अपने कल्पना-चित्र स्वयं निर्मित करने होते हैं; किन्तु ये कल्पनाएँ सदा ऐसी हों, जिनकी रूपरेखा सही हो, अर्थात् ऐसे तत्त्व की

कल्पना की जानी चाहिए, जिसकी सत्ता हो, जो यथार्थ हो; निराधार कल्पना-चित्र नहीं बनाने चाहिए।

कुछ लोग ईश्वरीय रूप के चिन्तन की अपेक्षा परमेश्वर की विद्यमानता के भान को अधिक महत्त्व देते हैं; तथापि वे भी ईश्वरीय रूप का चिन्तन करते हैं। वही एक परमात्मसत्ता चिन्तन किये जानेवाले रूप में तथा भक्त की स्वयं की आत्मा के रूप में व्याप्त है।

सोचो कि तुम्हारा सम्पूर्ण हृदय अथवा सिर दिव्य ज्योति से ओत-प्रोत है और यह ज्योति उस अखण्ड ज्योति का अंग है, जो सबमें व्याप्त है। अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को, अपने अहं-भाव को—अपने शरीर, मन और भावनाओं को, उसमें विलीन कर दो। इसकी बहुत स्पष्ट कल्पना करो। और तदनन्तर सोचो कि यह अनन्त ज्योति-सिन्धु रूप ग्रहण कर रहा है—इसका कुछ अंश तुम्हारे इष्ट के रूप में घनीभूत होता जा रहा है। लेकिन उस अनन्त पृष्ठभूमि को आँखों से ओझल कभी मत होने दो, जिसके कि तुम्हारे इष्ट, तुम स्वयं और अन्य सभी अंग स्वरूप हैं और जो सबमें व्याप्त है। उस शाश्वत तत्त्व को कभी न भूलो, जो तुम्हारा तथा समस्त ब्रह्माण्ड का आधार है, क्योंकि एक दिन तुम उसी का साक्षात्कार करोगे।

इस प्रकार के ध्यान में वह एक सत्ता मानो दो में विभक्त हो जाती है, अर्थात् वह अनन्त प्रकाश भक्त और भगवान् (इष्ट) के रूपों में घनीभूत हो जाता है।

इन क्षुद्र आनन्दरहित मानव-खिलौनों से, रक्त-मांस

के मानवी पुतलों से क्यों प्रेम करते हो ? यदि तुम सच-मुच प्रेम करना चाहते हो, तो प्रभु से, चरम आदर्श से प्रेम करो, न कि क्षणभंगुर तुच्छ मानव-देहों से।

एक वार एक राजा को उच्चतर जीवन व्यतीत करने की सलाह दी गयी। परन्तु उसे यह प्रयास पर्याप्त कठिन जान पड़ा। उसे भोजन में थोड़ा संयम करने के लिए कहा गया, लेकिन उसने देखा कि जो सन्त उसे यह निर्देश दे रहे थे, वे स्वयं बहुत चटपटा भोजन कर रहे थे। "आप इतना गरिष्ठ भोजन करते हैं," राजा ने पूछा, "तब भी आप अपना मानसिक सन्तुलन कैसे बनाये रखते हैं?" सन्त ने उत्तर दिया, "मृत्यु का विचार सदैव मेरे मन में बना रहता है और यही मुझ पर विशेष प्रभाव डालता है।"

हमें भोजन के सम्बन्ध में कुछ विवेक और संयम का उपयोग करना चाहिए। किन्तु जबतक हम शरीरधारी हैं, तब तक शरीर की देखभाल और शुश्रूषा भी यथोचित करनी चाहिए, जिससे वह ईश्वर-साक्षात्कार तथा भगवत्-कार्य का एक योग्य यन्त्र बना रह सके। रोगी एवं दुर्बल व्यक्ति में पूरी तरह स्वस्थ अथवा सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक देह-बुद्धि होती है। और यदि हम आध्यात्मिक जीवन में अच्छी प्रगति चाहते हैं, तो हमें चाहिए कि अपने देह-बोध को घटाकर कम से कम कर दें। जब तक हम अपने हृदय में संसार के प्रति प्रेम को बने रहने देंगे तथा उसका संवर्धन करते रहेंगे, तब तक भगवत्-प्रेम का जन्म नहीं हो सकता। जब तक हमारा मन एक न्यूनतम परिमाण

में शुद्ध और आसक्तिरहित नहीं हो जाता तथा त्याग के लिए तत्पर नहीं होता, तब तक हम आत्म-साक्षात्कार की बात सोच भी नहीं सकते। अपने शरीर को शुद्ध करने का प्रयत्न करो; यथाशक्ति अपने हृदय और अपने मन को शुद्ध करने का प्रयास करो। तत्पश्चात् आध्यात्मिक अनुभूति की ज्वाला समस्त इच्छाओं को भस्म कर देगी।

समस्त सांसारिक विचारों को अपनी इच्छाशक्ति द्वारा, लगन और निष्ठा पूर्वक, सजग रहकर, दूर करने का प्रयास करो, और अपने मन को ईश्वर में लगाओ। जो अनुशासित नहीं है और पवित्र जीवन व्यतीत नहीं करता है, उसे यह निर्देश कभी नहीं दिया जाना चाहिए, क्योंकि जो समुचित रूप से तैयार नहीं हुआ है तथा जिसने ठीक ठीक प्रारम्भिक प्रशिक्षण प्राप्त नहीं किया है, उसके लिए ध्यान हानिकारक बन जाता है। केवल वही व्यक्ति पूर्ण शरणागति को पा सकता है, जो कठोर परीक्षण और नैतिक अनुशासन में से होकर गुजरा हो।

तुम्हें लोगों से बहुत खुलकर मिलना-जुलना नहीं चाहिए। एक बार श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) को प्रसिद्ध बंगाली नाटककार एवं कलाकार गिरीशचन्द्र घोष के साथ बहुत अधिक मिलने से मना किया। उन्होंने कहा, "जिस कटोरी में लहसुन बहुत समय तक रखी हो, उसे अच्छी तरह धो डालने पर भी लहसुन की थोड़ी-बहुत गन्ध बनी ही रहती है।" दूसरे भक्तों से यह बात सुनकर गिरीश बड़े दुखित हुए और श्रीरामकृष्ण

के पास जाकर इस सम्बन्ध में चर्चा की। उन्होंने पूछा, "इस गन्ध को दूर करने के लिए मैं क्या करूँ ?"

श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "तुमने भगवद्भक्ति की प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित कर रखी है; उसमें सब कुछ जल कर भस्म होता जा रहा है।"

गिरीश ने कहा, "मैंने सुना है कि आपने इस सम्बन्ध में कुछ कहा है, लेकिन आशीर्वाद दीजिए कि लहसुन की यह दुर्गन्ध दूर हो जाय।"

श्रीरामकृष्ण—"तुमने भक्ति की ऐसी ज्वाला जला रखी है कि वही सारी दुर्गन्ध दूर कर देगी। तुम्हारे पूर्व जीवन की बू तक तुममें नहीं रहेगी।"

बाद में गिरीशचन्द्र घोष ने कहा था, "प्रभु ने मेरे समस्त दुर्गुण हर लिये !"

जो कठोर साधना में से गुजरा हो, वही पूरी तरह से तथा बिना किसी शर्त के प्रभु के चरणों में आत्म-समर्पण कर सकता है। शरणागति तभी आ सकती है, जब हमारे पंख, जहाज के मस्तूल पर बैठे पक्षी के पंखों की तरह, पूरी तरह थक गये हों। साधना चित्त को शुद्ध और ईश्वरीय संस्पर्श के उपयुक्त बनाती है। प्रबल अध्य-वसाय और सुदृढ़ निष्ठापूर्वक की गयी साधना ही हमारे जीवन में शरणागति की प्रतिष्ठा करती है।

अत्यधिक क्रियाशीलता से बचो; वह हानिकारक होती है, वह प्रायः बन्दर की लक्ष्यहीन क्रिया के समान है। ऐसी क्रियाशीलता मन की चंचलता को छोड़ और कुछ

नहीं है। दूसरी ओर, तथाकथित शरणागति से भी बचो, यह नाम मात्र की शरणागति निष्क्रियता, आलस्य और अकर्मण्यता के अलावा और कुछ नहीं। यह लक्ष्यहीन क्रियाशीलता के समान ही बुरी है, बल्कि सम्भवतः उससे भी कहीं अधिक बुरी।

अधिकांश लोग इतने गतिशील इसलिए रहते हैं कि वे अपने आप से घबराते हैं। वे कार्य पर कार्य किये जाते हैं,—सिनेमा, पार्टियों और थियेटरों को जाते रहते हैं, और ढेर सारी पुस्तकें पढ़ते हैं। किसलिए ?—केवल अपने को व्यस्त रखने के लिए, अपने मन को अपने आप से हटाने के लिए। सच्चे साधक को उचित प्रकार की क्रियाशीलता और आत्म-समर्पण इन दोनों के समन्वय का प्रयत्न करना चाहिए।

आत्म-साक्षात्कार ही चरम लक्ष्य और आदर्श है। इसके लिए जिस प्रकार पूर्ण ब्रह्मचर्य आवश्यक है, उसी प्रकार कुछ मात्रा में तपोमय जीवन भी। अन्यथा मन इन्द्रियों द्वारा खींचा जाकर अधिकाधिक बहिर्मुखी और विषयासक्त हो जायगा। यदि हम आध्यात्मिक जीवन में सचमुच प्रगति करना चाहते हैं, तो हमारी चेतना का केन्द्र केवल एक होना चाहिए। बिना ब्रह्मचर्य के आध्यात्मिक जीवन सम्भव नहीं, चाहे दूसरे लोग और कुछ क्यों न कहें। देह को नियंत्रित और उसकी वासनाओं को शमित किये बिना तुम देह-बोध के ऊपर नहीं उठ सकते।

•

धर्म प्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

अनु० – स्वामी व्योमानन्द

(श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज श्रीरामकृष्ण देव के अन्तरंग शिष्य थे तथा रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के प्रथम अध्यक्ष थे। उनके कुछ उपदेशों का संकलन मूल बंगला ग्रन्थ के रूप में 'उद्बोधन कार्यालय' द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है।—सं०)

स्थान–भद्रक

१९१५

भगवान् कल्पतरु हैं––उनके पास जो जैसा चाहता है, वह वैसा पाता है। जिसका जैसा भाव, उसका वैसा लाभ। दुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर भी जब जीव उसका सदुपयोग नहीं करता, भगवान् के पादपद्मों में मन न लगा असार माया-मोह के समुद्र में डूबे रहकर सोचता है, "मजे में हूँ", तब भगवान् भी कहते हैं, "मजे में रहो।" और फिर जब दुःख-कष्ट पाकर हाय हाय करते हुए, वह सोचता है, "इस जीवन में मैंने क्या किया ?" तब वे भी कहते हैं, "हाँ, क्या किया ?" मनुष्य कल्पतरु के नीचे बैठा हुआ है; उनके पास जो माँगेगा, वही पाएगा, देवत्व चाहे तो देवत्व मिलेगा और पशुत्व चाहे तो पशुत्व।

मनुष्य को उन्होंने दो चीजें दी हैं–विद्या और अविद्या। विद्या दो प्रकार की है––विवेक और वैराग्य। इनका आश्रय लेने पर मनुष्य भगवान् की शरण में आता है। अविद्या छः प्रकार की है––काम, क्रोध इत्यादि। इनका

आश्रय लेने पर मनुष्य पशुभावापन्न होता है। विद्या का culture (अनुशीलन) करने से अविद्या का नाश होता है, और अविद्या का culture करने से "मैं" और "मेरा" का ज्ञान बढ़कर मनुष्य को संसार में बद्ध कर देता है तथा भगवान् से बहुत दूर ले जाता है, जिससे जीव को अशेष दु:ख-कष्ट सहना पड़ता है। जीव को उन्होंने सिर्फ विद्या और अविद्या ये दो चीजें ही दी हों, ऐसी बात नहीं, बल्कि इन दोनों में भला-बुरा क्या है, यह सोचने की शक्ति भी दी है। मनुष्य जिसे भला समझता है, उसे ग्रहण करेगा और फल भी तदनुरूप पाएगा।

मनुष्य दु:ख-कष्ट पाने पर भगवान् को जो दोष देता है, वह उसकी भूल है--बहुत बड़ी भूल। तुम अपनी पसन्द के अनुसार रास्ता तय करते हो, और उसी के अनुसार भला-बुरा फल भोगते हो। इसके लिए उन्हें दोष देने से कैसे चलेगा ? क्षणिक सुख के मोह में इतना भूले हुए हो कि भले और बुरे के विचार करने का भी तुम्हें समय नहीं रहा। आग में हाथ डालनें से हाथ जलेगा ही, तो यह आग का दोष है या तुम्हारा ? ठाकुर कहते थे, "दिये का स्वभाव है प्रकाश देना। अब यदि कोई उस प्रकाश में चावल पका रहा हो, या कोई जालसाजी कर रहा हो, या भागवत पढ़ रहा हो, तो यह क्या प्रकाश का दोष-गुण है ?" उसी प्रकार भगवान् ने मनुष्य को भला-बुरा दोनों रास्ते दिखा दिये हैं। अपनी इच्छानुसार select (चुनाव) कर लो।

जिसका जैसा भाव, उसका वैसा लाभ। विवेक-वैराग्य का आश्रय लो, तो उन्हें पाकर आनन्द के अधिकारी होगे। और संसार का यदि आश्रय लो, तो इस जीवन में थोड़ा-बहुत क्षणिक सुख अवश्य पाओगे, किन्तु भविष्य को अन्धकार-समुद्र में डुबोकर अनन्त दुःख पाने के लिए भी तुम्हें तैयार रहना होगा। ऐसा कहने से नहीं बनेगा कि सिर्फ सुख ही चाहिए, दुःख नहीं। एक की इच्छा करने से दूसरा आयगा ही, तुम चाहो या न चाहो।

ठाकुर कहते थे, "मलय पवन के स्पर्श से जिन सब वृक्षों में सार है, वे चन्दन हो जाते हैं, किन्तु सारहीन वृक्षों का--बाँस, केले आदि का--कुछ भी नहीं होता।" दो प्रकार के मनुष्य होते हैं। एक वे हैं, जिनमें सत्-कथा सुनने से ही विवेक-वैराग्य जग जाता है, संसार-सुख तुच्छ मालूम होने लगता है और उनका कृपा-कटाक्ष पाने के लिए मन व्याकुल हो उठता है। उन्हें जानने के लिए, जीवन-मरण की पहेली को समझने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ हो जाता है। शरीर रहे या जाय, इसकी वह चिन्ता नहीं करता; भगवान् को पाने का दृढ़ संकल्प लेकर वह साधन-भजन आरम्भ कर देता है। ये लोग जीवन में successful (सफल) भी होते हैं। एक प्रकार के लोग और हैं, उनके सामने कितना ही बड़ा आदर्श क्यों न रखो, वे किसी भी दशा में चेतेंगे नहीं। वे सोचते हैं—"इस संसार में मैं हमेशा बचा रहूँगा", "मेरे न रहने से काम नहीं चलेगा", "हाथ में जो आया है, उसका भोग

न करूँ, तो मूर्ख ही सिद्ध होऊँगा" ।——ऐसा सोचकर ये लोग अपने को घसीटकर अन्धे कुएँ में डाल लेते हैं और असीम दुःख-कष्ट भोगते हैं ।

चन्दन की सुगन्ध enjoy (उपभोग) करना अच्छा है या दुर्गन्ध का उपभोग करना ? शान्ति अच्छी है या अशान्ति ?—यह अच्छी तरह से समझ लो; समझकर एक रास्ता ठीक कर लो । समय तुम्हारे लिए रुकेगा नहीं, वह नदी के स्रोत के समान लगातार बहता चला जा रहा है । बाद में हाय हाय करने से कुछ भी हाथ नहीं आएगा । जो समय बीत चुका है, उसे वापस लाने का कोई उपाय नहीं, उसके लिए सोचने से भी कोई लाभ नहीं । जो समय अभी भी तुम्हारे हाथ में है, उसका सद्व्यवहार करो, जिससे अब एक क्षण भी वृथा न जाय । अभी से मन को इस तरह गढ़ो, जिससे उनका चिन्तन, उनका स्मरण-मनन छोड़ और अन्य विषय मन में स्थान न पाए । इने-गिने ही दिन तो बचे हैं और वे भी क्रमशः बीते जा रहे हैं । व्यर्थ समय मत गँवाओ ।

व्याकुल हृदय से उनके पास प्रार्थना करो, "हे प्रभो, मुझे सद्बुद्धि दीजिए, मुझे अपना बना लीजिए। 'मैं'-'मेरा' भाव दूर कर दीजिए । 'मैं'-'मेरा' कहते कहते बहुत धक्के खाये हैं——अब 'तुम'-'तुम्हारा' कहना सिखाइए ।" देखते नहीं, सदैव के लिए आँखें मूँद लेने पर तुम्हारा क्या कुछ रहता है ? 'मेरा' कहकर जिन्हें जकड़े हुए हो, वे क्या तुम्हारे साथ जाएँगे ? उनका समय आने पर वे अकेले चले

जाएँगे, तुम्हारी तरफ लौटकर भी नहीं देखेंगे। उन सबको छोड़कर तुम्हें एक अनजान देश में जाना है। जितना 'मेरा'-'मेरा' करोगे, उतना ही पैर में बेड़ी लगेगी। मनुष्य 'संसार-संसार' कहकर मरता है, पर इसमें भला क्या धरा है? जब धक्का खायेगा, तब क्या संसार उसकी रक्षा कर सकेगा? जिसके लिए यहाँ आना हुआ, जिसके लिए यह दुर्लभ मनुष्य-जन्म मिला, उसके लिए कुछ न कर, उसे छोड़कर यदि यहाँ से जाना पड़ा, तो इससे बढ़कर दुर्भाग्य की बात और क्या हो सकती है? अतएव जी जान से प्रयत्न करो, जिससे खाली हाथ कहीं जाना न पड़ जाय। उनके पास खूब रोओ, व्याकुल हृदय से उन्हें पुकारो।

सुना है तो, ठाकुर दक्षिणेश्वर में किस तरह रोते थे?—"माँ, और एक दिन बीत गया, अभी तक दर्शन नहीं दिये!" उनके लिए व्याकुल होओ, संसार में क्या धरा है, सिर्फ दुख का ही भण्डार तो है। यहाँ तो रोते रोते दिन बीत गये, वहाँ भी क्या रोते रोते दिन बीतेंगे?

ठाकुर के आश्रय में जब आ गये हो, तो उनकी कृपा अवश्य ही पायी है ऐसा जानना। उनकी कृपा का सद्व्यवहार करो। कृपामय की कृपा पाकर यदि धारणा न कर सको, आनन्द न पा सको, जीवन-मरण का रहस्य भेदकर उनके नित्य साथी न बन सको, तो फिर तुम्हारे जैसा अभागा इस दुनिया में और कौन है? इस युग के लोग हो तुम सब—युग की हवा शरीर से लगी है, उसका advantage (लाभ) लेना मत छोड़ना। अन्य किसी भी

युग में किसी ने इतने सीधे और सहज ढंग से राह नहीं दिखायी--यह opportunity (सुविधा) यदि यों ही गँवा दो, तो फिर बहुत समय तक पछताना पड़ेगा।

युग की हवा के अनुसार पाल तानकर तीव्रगति से बढ़े जाओ। वे रास्ता देख रहे हैं, पाल तानने से ही नौका ठिकाने में पहुँच जाएगी। पाल खोल दो, पाल खोल दो। तुम लोगों में यथेष्ट शक्ति विद्यमान है। स्वयं पर विश्वास रखो--ऐसा विश्वास कि उनका नाम सुना है, उनका नाम लिया है, भय और दुर्बलता मुझमें रह नहीं सकती, उनकी कृपा से इस जीवन में ही उन्हें प्राप्त करूँगा। पीछे फिरकर देखना नहीं, आगे बढ़े चलो—उनके दर्शन पाकर धन्य हो जाओगे, मनुष्य-जन्म सार्थक हो जायगा, अपार आनन्द के अधिकारी हो जाओगे।

•

श्री भरत का धर्म-बोध

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

भगवान् राम वन को गमन करते हैं और महाराज दशरथ उनके वियोग में प्राण त्याग देते हैं। श्री भरत गुरु वसिष्ठ की आज्ञा से ननिहाल से बुलाये जाते हैं। भरतजी आते हैं। पुनः एक बार धर्म और धर्मसार का विवाद सामने आ खड़ा होता है। कैसे ? तीनों माताएँ सती होने के लिए प्रस्तुत हैं——कौसल्या, कैकेयी और सुमित्रा महाराज दशरथ के साथ जलकर अपने प्राण त्यागना चाहती हैं। भरतजी तुरत माताओं के चरणों को पकड़कर रोकते हैं——गहि पद भरत मातु सब राखी (२/१६९/२)। वहाँ पर गुरु वसिष्ठ भी हैं, पर वे रानियों के सती होने में कोई आपत्ति नहीं मानते। और यहीं धर्म और धर्मसार का अन्तर प्रकट हो जाता है। गुरु वसिष्ठ सदैव शास्त्रीय परम्परा का अनुमोदन करते हैं। शास्त्रीय परम्परा यह थी कि पतिव्रताएँ अपने पतियों के साथ सती हो जाती थीं। अतः रानियों का सती होने के लिए प्रस्तुत होना गुरु वसिष्ठ को धर्मानुकूल प्रतीत होता है। पर भरतजी इसे उचित नहीं मानते। यह ठीक है कि पति-व्रता का सती होना धर्म है, पर धर्मसार क्या है ? गोस्वामीजी 'दोहावली रामायण' में इसका मर्म उपस्थित करते हुए कहते हैं——एक पत्नी अपने प्रियतम के वियोग को एक क्षण भी नहीं सह पाती है। वह अपने पति के

साथ प्राणों का परित्याग कर देती है। पति से वह इतनी एकाकार हो चुकी है कि उसके वियोग में शरीर रखना असम्भव है। ऐसी सती धन्य है। सभी उसकी पूजा करते हैं। एक दूसरी स्त्री है, जो मन से सती होने का विचार नहीं करती, पर जिसकी बुद्धि उसे सती होने की प्रेरणा देती है। वह सती यदि धर्म की महिमा सुनकर और यह सोचकर सती होने का निर्णय करे कि सती होना बड़ी अच्छी बात है, सती की बड़ी पूजा होती है, बड़ा नाम-यश मिलता है, तो इसमें भय है। उसका निर्णय मानसिक न होकर बौद्धिक हो जायगा। और ऐसा निर्णय टिकेगा कब तक?——जब तक मालाएँ पहिनायी जायँगी, जयकार किया जायगा, पीछे पीछे बाजे बजेंगे, तभी तक। पर जिस समय अग्नि में जलना पड़ेगा तब? गोस्वामीजी लिखते हैं——

निकसि चिता तें अधजरति,
मानहुँ सती परानि ॥ (दोहा०, २५.३)

——जब चिता में आग लगायी जायगी, तो उसका ताप केवल बुद्धि से तो नहीं सहा जायगा। और जब ताप सहा न जायगा, तो स्वाभाविक है कि वह भागने की चेष्टा करेगी। जब मृत्यु सामने आ जाती है, तो बड़े बड़े धैर्यशालियों का धैर्य भी छूट जाता है। 'मानस' में प्रसंग आता है, जब बन्दरों को सीताजी का समाचार नहीं मिला, तो उन्होंने निर्णय लिया कि अनशन करके प्राण त्याग देंगे। अनशन करने के लिए वे सब आसन बिछाकर बैठे।

बैठे कपि सब दर्भ डसाई ॥ ४/२५/१०

--कुशासन बिछ गया और वे प्राण त्यागने के लिए बैठ गये। ऊपर गिद्ध सम्पाति बैठा हुआ था। उसने सोचा कि इतने बन्दर अनशन करके प्राण देंगे, कितना आनन्द आयगा इन्हें खाने में। उसने कहा--

कबहुँ न मिल भरि उदर अहारा।
आजु दीन्ह बिधि एकहिं बारा ॥ ४/२६/५

--'पेट भर भोजन तो कभी मिलता नहीं। आज विधाता ने एक ही बार में बहुत सा भोजन दे दिया।' जब बन्दरों ने यह सुना, तो क्या हुआ?--

डरपे गीध बचन सुनि काना ॥ ४/२६/५

--कहाँ प्राण देने जा रहे थे, अब डर के मारे काँपने लगे। जब प्राण देना है, तो फिर डरना क्यों? पर नहीं, मृत्यु के लिए तैयार होना एक बात है और उसका सामना करना दूसरी। तात्पर्य यह है, जब मनुष्य कोई वस्तु बुद्धि से स्वीकार कर लेता है, तो उसमें प्रवंचना का भय रहता है। एक स्त्री है, जिसने क्षण भर में पति के साथ प्राण त्यागने का निर्णय लिया और वह उसके साथ सती हो गयी। वह तो धन्य हो गयी। और एक दूसरी स्त्री है, जो बुद्धिपूर्वक सती होने का निर्णय लेती है, पर वह आग की ज्वाला सह नहीं पाती, प्राणों का मोह नहीं त्याग पाती, आग से भाग निकलने की चेष्टा करती है। इतिहास में ऐसे भी दृष्टान्त हैं कि जब सती होती हुई किसी स्त्री ने भागने की चेष्टा की, तो परिवारवालों ने लाठी का प्रहार कर उसे आग में ढकेला और इतने जोर

से बाजे बजवाये कि उसका करुण स्वर दब गया। उसे जबरन सती बनाया। एक है सती होना, दूसरा है सती बनना और तीसरा है सती बनाया जाना। तो धर्म तीसरे तक आते आते अधर्म हो जाता है। जब गोस्वामीजी से किसी स्त्री ने कहा, "आप आज्ञा दीजिए, मैं पति के साथ अपने शरीर का परित्याग करना चाहती हूँ," तो गोस्वामीजी बोले, "नहीं, मैं आज्ञा नहीं दूँगा।"
--"क्यों? आप महात्मा होकर मुझे सती होने से रोकना चाहते हैं?" गोस्वामीजी ने कहा, "नहीं, मैं तो चाहता हूँ कि यदि तुम सती हो, तो सती ही रहो। सती होने का अर्थ केवल आग में जल जाना ही नहीं है।"
--"तो क्या है?"
गोस्वामीजी बोले--

सीस उघारन किन कहेउ,
बरजि रहे प्रिय लोग।
घर ही सती कहावती,
जरती नाह बियोग ॥ (दोहा., २५४)

प्रियतम के वियोग की अग्नि में जलते हुए जो प्रियतम के कार्य को करे उसकी याद को क्षण भर के लिए भी न भुलाए, यही सतीत्व है। सतीत्व केवल जल जाने में नहीं है। घण्टे भर में जल कर भस्म हो जाना सरल है, पर जीवन भर विरह की आग में जलना, विषय-भोग से दूर रहना बड़ा कठिन कार्य है। तुम यही कड़ी परीक्षा दो। घर में रहकर ही सतीत्व का परिचय

दो ।—यही गोस्वामीजी की दृष्टि है। उनका तात्पर्य यह है कि हमें धर्म को व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। जैसे प्राणों का त्याग कर देना प्रेम का प्रतीक है, उसी प्रकार जीवित रहना भी प्रेम का प्रतीक है। प्रियतम के लिए प्राणों का त्याग कर देना जैसे धर्म है, प्रियतम के कार्य को पूरा करने के लिए जीवित रहना भी धर्म है। धर्म का ऐसा व्यापक रूप यदि समझ में आ जाय, तो फिर प्रवंचना का प्रश्न ही नहीं रहता। भरतजी इसीलिए माताओं को सती होने से रोकते हैं।

महाराज श्री दशरथ ग्लानि में भरकर शरीर त्याग देते हैं। ग्लानि यह कि मेरे मुँह से ऐसे वचन क्यों निकले। उनके जीवन के सारे संकल्प पूरे हो गये थे, वे केवल अन्तिम संकल्प पूरा नहीं कर पाये। और 'रामचरितमानस' का यही एक ऐसा प्रसंग है, जहाँ गोस्वामीजी महाराज दशरथ के चरित्र की आलोचना करते हैं। अन्यत्र सभी जगह उन्होंने उनकी प्रशंसा की है। महाराज दशरथ का संकल्प पूरा क्यों नहीं हुआ? जिस दिन उन्होंने भगवान् राम को राज्य देने का संकल्प किया उस दिन उन्होंने विचार किया कि आज की रात्रि कैकेयी के महल में व्यतीत करूँ। कैकेयीजी के महल में रात बिताने की आकांक्षा उनके अन्तःकरण के राग की सूचक है, धर्म की नहीं। जब वे कैकेयीजी के महल की ओर चले, तो दासी द्वारा उन्हें सूचना मिली कि कैकेयीजी इस समय कोपभवन में बैठी हुई हैं। महाराज दशरथ के

लिए अब भी एक अवसर था कि वे सावधान हो लौट जाते—यह सोचकर कि मैंने एक पवित्र संकल्प लिया है, उसमें कोई बाधा न आ जाय। पर वे लौटते नहीं, कोप-भवन की ओर जाते हैं। गोस्वामीजी ने इस पर बड़ी व्यंग्यात्मक चौपाई लिखी—

कोप भवन सुनि सकुचेउ राऊ।
भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ॥ २/२४/१

—कोपभवन का नाम सुनते ही राजा सहमते हैं। मारे भय के पैर ही आगे नहीं बढ़ता। गोस्वामीजी याद दिलाते हैं— ये वही राजा दशरथ हैं—

सुरपति बसइ बाँहबल जाकें।
नरपति सकल रहहिं रुख ताकें॥ २/२४/२

—जिनकी भुजाओं के बल पर देवराज इन्द्र निर्भय होकर रहते थे तथा सारे राजा जिनका मुँह जोहते थे, उनकी अभी क्या दशा है ?—

सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई।
देखहु काम प्रताप बड़ाई॥ २/२४/३

—इतने बड़े महाराज, और वे भी पत्नी का क्रोध देखकर काँपनें लगे। क्यों ?—देखहु काम प्रताप बड़ाई। महाराज दशरथ के मन में भी काम था। और जहाँ काम आया, तो राम तो दूर जाने ही वाले हैं—

जहाँ राम तहँ काम नहिं
जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ न रहि सकैं

रबि रजनी इक ठाम ।। (तुलसी सतसई)

जब महाराज दशरथ ने कैकेयीजी को उदास देखा, तो उनके मुख से केवल दो वाक्य निकले और वे भी उनके चरित्र के अनुकूल नहीं थे । उन्होंने कहा--

जानसि मोर सुभाउ बरोरू ।
मनु तव आनन चंद चकोरू ।। २/२५/४

--कैकेयी ! तुम मेरा स्वभाव जानती ही हो । मैं तो सदा तुम्हारे मुख-चन्द्र का चकोर हूँ । अब यदि कोई शृंगारी व्यक्ति ऐसा कहे, तो कोई अनुचित बात नहीं, पर महाराज श्री दशरथ जैसे व्यक्ति, जिन्होंने मनु के रूप में हजारों वर्ष तप करके भगवान् को पाया, यदि ऐसा कहें, तो बड़ा अटपटा लगता है । उन्होंने तो भगवान् राम का मुख-चन्द्र देखा था--

रामचंद्र मुख चन्द्र छबि लोचन चारु चकोर ।। १/३२१

जो भगवान् राम के मुख-चन्द्र का चकोर हो चुका है, वह आज भी कैकेयी के मुख-चन्द्र का चकोर बना हुआ है । तब तो दो चन्द्रमाओं में से एक को ही चुनना पड़ेगा । या तो राम-चन्द्र चुनें जायँ, या फिर कैकेयी-चन्द्र । जब उन्होंने कहा--कैकेयी, मैं तो तुम्हारे मुख का चकोर हूँ, तो भविष्य का अन्धकार मानो झाँक रहा था । यही बात हम प्रतापभानु के प्रसंग में भी पाते हैं ।

प्रतापभानु का पतन कैसे हुआ ? प्रतापभानु वन में शिकार खेलने गया । वहाँ उसने एक शूकर देखा और उसके पीछे अपना घोड़ा दौड़ाया । या शूकर कौन था ?

गोस्वामीजी की भाषा बड़ी प्रतीकात्मक है। शूकर था कालकेतु। प्रतापभानु के पिता का नाम था सत्यकेतु। नामों में बड़ी समता है--सत्यकेतु और कालकेतु। केतु का अर्थ होता है--झण्डा। सत्य का झण्डा और काल का झण्डा। कालकेतु माने अवसरवादी। सत्यकेतु माने आदर्शनिष्ठ। समाज में दो प्रकार की विचारधाराएँ होती हैं। कुछ आदर्शनिष्ठ होते हैं और कुछ समयनिष्ठ, जो कई झण्डे जेब में रखते हैं,--जब जो विजयी हुआ, उसी का झण्डा निकालकर फहरा दिया। कालकेतु का लक्षण है--सदा काल की प्रतीक्षा करनेवाला। इसीलिए व्यंग्य आया है कि राजा सत्यकेतु के दो पुत्र थे--तेहि कें भए जुगल सुत बीरा (१/१५२/४)। और कालकेतु के ?--तेहि के सत सुत अरु दस भाई (१/१६९/५)--दस भाई और सौ पुत्र। तो, अवसरवादी बहुत होते हैं और सत्यवादी हमेशा ही कम। सत्यकेतु का परिवार हमेशा छोटा होता है और कालकेतु का बड़ा।

प्रतापभानु तभी तक धन्य था, जब तक वह सत्यकेतु का पुत्र था। और जब वह कालकेतु के पीछे दौड़ता है, उसका पतन आरम्भ हो जाता है। कालकेतु का मित्र है कपटमुनि। गोस्वामीजी की भाषा बड़ी सांकेतिक है। अभिप्राय यह है कि अवसरवादी कभी भी कपट का सहारा ले सकता है। कालकेतु पहले शूकर बना, फिर ब्राह्मण बना और राक्षस तो वह था ही। जब जैसा अवसर आया, उसने वेष बना लिया। और यह कपटमुनि पहले राजा

था। अन्य सब राजा प्रतापभानु से हार गये। पर इसने हारकर भी हार नहीं मानी। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि सबने हार मान ली, पर यह हार नहीं मान रहा है। गोस्वामीजी कहते हैं--भई, वह कालकेतु का मित्र था न। वह काल के रहस्य को जानता था। उसनें जान लिया था कि--

समय प्रतापभानु कर जानी।
आपन अति असमय अनुमानी ।। १/१५७/३

--प्रतापभानु का समय अभी अच्छा है और उसका बुरा। आकाश में जब मध्याह्न का, बारह बजे का सूर्य रहे, तो किसकी हिम्मत है, जो उससे नेत्र मिलाये, उसकी ओर ताके? पर जो दूरदर्शी है, समय का जानकार है, वह तुरत कह देगा--कोई बात नहीं, अभी यदि मध्याह्न है, तो सायंकाल भी तो होगा। फिर देखेंगे कि सूर्य की क्या दशा होती है? कपटमुनि ने यही सोचा–ठीक है, आज प्रतापभानु उठा है तो क्या हुआ, उसका अस्त भी तो होगा। और हुआ भी यही। जब प्रतापभानु कपटमुनि के आश्रम में पहुँचा और उसने उसे प्रणाम किया, तो शाम के छह बज रहे थे। कपटमुनि ने तुरत राजा को आसन दिया। गोस्वामीजी लिखते हैं--

आसन दीन्ह अस्त रबि जानी। १/१५८/२

कपटमुनि जान गया कि अब सूर्य अस्त होनेवाला है। उसनें कहा—आइये, आइये, प्रतापभानु! बड़े सुन्दर समय में आये। उधर सूर्य अस्त हो रहा है और यहाँ

नया सूर्य उग आया। व्यंग्य यह था कि पहले भले ही तुम प्रबल रहे हो, पर अब तो डूबने ही वाले हो। क्यों? --अरे! जब सत्यकेतु का पुत्र भी कालकेतु के पीछे भागेगा, एक अवसरवादी के समान लोभ और स्वार्थ से ग्रस्त हो जायगा, तो वह केवल नाम का ही प्रतापभानु रह जायगा। उसके जीवन में अन्धकार का प्रवेश तो तभी हो गया, जब वह कालकेतु के पीछे भागा। गोस्वामीजी का अभिप्राय यह था कि जब सत्यनिष्ठ व्यक्ति भी लोभग्रस्त और वासनाग्रस्त होगा, तो वह चाहे जितना बड़ा क्यों न हो, उसके पतित होने की आशंका हो ही जायगी। महाराज श्री दशरथ की इससे बढ़कर महानता क्या हो सकती है कि--

जिन्हहि बिरचि बड़ भयउ विधाता।
महिमा अवधि राम पितु माता॥ १/१५/८

और ऐसे महाराज दशरथ जा कहाँ रहे हैं?

कैकेयी के यहाँ।

कौन कैकेयी?

जिसका हृदय मन्थरा द्वारा लोभग्रसित कर दिया गया है।

वे बैठी कहाँ है?

कोप भवन में।

और महाराज अपने साथ क्या लेकर जा रहे?

काम।

रानी अन्तःकरण में लोभ लिये बैठी हैं क्रोध के भवन में, और महाराज काम लिये जा रहे हैं। काम

क्रोध और लोभ——ये कैसे हैं ?——

तात तीनि अति प्रबल खल
काम क्रोध अरु लोभ। ३/३८ क

——ये तीनों अत्यन्त प्रबल दुष्ट हैं। और कल रामराज्य होने वाला है। भगवान् मन ही मन हँसते हैं। जहाँ अभी महल में काम, क्रोध और लोभ छिपे बैठे हों, वहाँ क्या कल रामराज्य बन सकता है ?

महाराज दशरथ ने कैकेयीजी से दूसरी बात कही—कैकेयी ! तुम्हें यह जानकर प्रसन्नता होगी कि मैं एक कार्य केवल तुम्हारी प्रसन्नता के लिए कर रहा हूँ।

कौन सा ?

वही जो तुम्हारे मन के लायक है——

भामिनि भयउ तोर मनभावा।
घर घर नगर अनंद बधावा॥
रामहि देउँ कालि जुबराजु। २/२६/२-३

——कल मैं तुम्हारी प्रसन्नता के लिए राम को राज्य दे रहा हूँ।

बात सुनने में अटपटी नहीं लगती, पर जो उसके अन्तरंग में प्रवेश करेंगे, वे समझ पाएँगे कि यह कितनी उचित है या अनुचित। हमें देखना है कि साध्य क्या है ?——राम को राज्य देना, अथवा कैकेयी को प्रसन्न करना ? महाराज दशरथ के मुख से यह निकला कि मैं तुम्हारी प्रसन्नता के लिए राम को राज्य दे रहा हूँ। इसलिए कैकेयी ने कह ही दिया कि जब आप मेरी

प्रसन्नता के लिए दे रहे हैं, तो अब उसे बदल दीजिए। भरत को राज्य दे दीजिए और राम को वन भेज दीजिए।

जब व्यक्ति किसी की प्रसन्नता के लिए कार्य करने लगता है, तो उसे आदर्श से च्युत होने में देर नहीं लगती। कर्म तो ईश्वर की प्रसन्नता के लिए, अपने आदर्श की रक्षा के लिए होना चाहिए, न कि किसी व्यक्ति की प्रसन्नता के लिए। महाराज दशरथ तो यहाँ तक कह बैठते हैं---

कहु केहि रंकहि करौं नरेसू।
कहु केहि नृपहि निकासौं देसू॥
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी। २/२५/२-३

--बताओ किस दरिद्र को राजा बना दूँ, किस राजा को देश निकाला दे दूँ? तुम्हारा शत्रु कोई देवता भी हो, तो उसे मार डालूँ! मानो भावी हँस रही थी। अयोध्या का इतना बड़ा राजा अपनी पत्नी की प्रसन्नता के लिए विना कुछ सोचे यह सब कह रहा है। तात्पर्य यह कि महाराज दशरथ उस समय इतने कामग्रस्त हो गये कि उन्हें धर्म, विवेक और मर्यादा का स्मरण नहीं रहा। कैकेयी की प्रसन्नता ही उनका लक्ष्य हो गयी। और हुआ क्या?

अयोध्याकाण्ड में दो साधक हैं, दो योगी हैं--एक हैं महाराज दशरथ और दूसरे, श्री भरत। गोस्वामीजी दोनों की तुलना करते हुए लिखते हैं--

कवनें अवसर का भयउ गयउँ नारि विस्वास।
जोग सिद्धि फल समय जिमि जतिहि अबिद्या नास॥ २/२९

एक योगी--महाराज श्री दशरथ-ने साधना की। वे साधना की चरम सीमा पर पहुँचे, पर अन्तिम क्षण में साधना में असफल हो गये। दूसरे योगी हैं श्री भरत, जिनके बारे में गोस्वामीजी लिखते हैं--

करत प्रबेस मिटे दुख दावा।
जनु जोगी परमारथु पावा ॥ २/२३८/३

--इस दूसरे योगी ने परमार्थ पा लिया, जबकि पहला असफल हो गया। क्यों? पार्थक्य मूल में ही है। महाराज श्री दशरथ ने निर्णय लिया--मैं कल राम को राजगद्दी पर बिठाऊँगा। इसका तात्पर्य यह था कि महाराज दशरथ ने यह मान लिया कि अयोध्या का स्वामी मैं हूँ और मैं राम को राज्य दूँगा। अब जरा भरतजी के प्रसंग में देखें--उनसे गुरु वसिष्ठ ने कहा कि भरत, पिताजी ने तुम्हें राज्य दिया है, उसे ग्रहण करो। गुरु वसिष्ठ के कहने में बड़ी चतुराई है। वे धर्म का बड़ी कुशलता से उपयोग करते है। जब वे पहले भगवान् राम के पास गये थे, तो उनसे कहा था--'शास्त्र का कथन है कि ज्येष्ठ पुत्र राजा होता है, अतः तुम राज्य ग्रहण करो।' और जब आज भरतजी से कहने का प्रसंग आया, तो उनके लिए शास्त्र का दूसरा वचन खोज निकाला--

बेद बिदित संमत सबही का।
जेहि पितु देइ सो पावइ टीका ॥ २/१७४/३

--'भरत! यह तो वेदप्रसिद्ध है और सब शास्त्रों द्वारा मान्य है कि पिता जिसको दें, वही राजतिलक पाता है।

तुम्हारे पिता ने तुम्हें दिया है, अतः तुम उसे ग्रहण करो।' बड़े भाई से कह दिया कि बड़े को राज्य लेने का अधिकार है और छोटे से कह दिया, राज्य उसका है, जिसे पिता दे दें। धर्म दोनों ओर चला गया। लेकिन भगवान् राम और श्री भरत दोनों ऐसे सजग हैं कि दोनों ने ही इस व्याख्या को स्वीकार नहीं किया। जब श्री भरत से कहा गया—

जेहि पितु देइ सो पावइ टीका।

तो भरतजी ने कहा—यह बिल्कुल ठीक है कि यदि कोई व्यक्ति अपनी वस्तु दूसरे को दे दे, तो वह दूसरे की हो जाती है पर वस्तु लेनेवाले को लेने के पहले यह तो पता लगा लेना चाहिए कि दाता अपनी ही वस्तु दे रहा है या अन्य किसी की। भरतजी का तात्पर्य यह था कि पहले यह निर्णय कर लेना चाहिए कि राज्य पिताजी का है क्या? उन्हें देने का अधिकार है क्या? भरतजी यह कभी नहीं मानते कि राज्य पिताजी का है। वे प्रश्न करते हैं—पिताजी को राज्य किसने दिया ?

राजा अज ने।

राजा अज को किसने दिया ?

रघु ने।

इस प्रकार राज्य का वास्तविक स्वामी तो इनमें से कोई भी नहीं। वह तो एक हाथ से दूसरे हाथ में जाता रहा है। राज्य का वास्तविक स्वामी तो दूसरा ही है। वह कौन है ? इसका उत्तर ही भरतजी का धर्मसार,

उनका धर्मबोध है।

इस प्रसंग में मुझे महाभारत की एक घटना याद हो आती है। जब मैं महाभारत को पढ़ता हूँ, तो लगता है कि उस समय धर्म का रूप कैसा विचित्र हो गया था तथा उसके कैसे विचित्र अर्थ किये जाते रहे थे। एक प्रसंग आता है--राजा शल्य अपनी सेना लेकर युधिष्ठिर की ओर से लड़ने आ रहे हैं। मार्ग में दुर्योधन ने अपने सैनिकों और सेवकों को नियुक्त कर रखा है कि जब शल्य आएँ, तो उनका खूब आदर-सत्कार किया जाय। शल्य आये। उन्होंने पूछा नहीं कि तुम किसकी ओर से स्वागत करने आये हो। यह समझकर कि युधिष्ठिर ने ही स्वागत का प्रबन्ध किया है, बड़े आनन्द से रुक गये और जब प्रातः-काल चलने लगे, तो सेवकों से कहा, 'युधिष्ठिर को मेरा धन्यवाद कहना। उन्होंने मेरा इतना ध्यान रखा।' सेवक बोले, 'पर महाराज! यह प्रबन्ध आपके लिए युधिष्ठिर ने नहीं, महाराज दुर्योधन ने किया है।' यह सुन शल्य को लगा कि लड़ाई तो उसकी ही ओर से करनी चाहिए, जिसका हमने अन्न खाया है। और बस, उन्होंने निश्चय कर लिया कि हम दुर्योधन की ओर से लड़ेंगे।

मैं कभी कभी सोचता हूँ कि यदि हनुमानजी भी धर्म का यही अर्थ लेते, तब तो रावण की वाटिका का फल खाने के बाद उन्हें रावण की ही ओर से लड़ना पड़ता। शल्य नें तो अनजाने में दुर्योधन का अन्न खाया था, जबकि हनुमानजी ने जानबूझकर रावण का फल

खाया। वस्तुतः द्वापरयुग के आते आते धर्म केवल अपनी लीक में रह गया था। यह ठीक है कि जिसका हम अन्न खायें, उसका साथ दें, पर कहाँ तक ठीक है कि एकबार किसी का अन्न खा लिया, तो जीवन भर का कर्तव्य-कर्म मिट गया। आये एक का साथ देने का संकल्प लेकर और साथ देने लगे दूसरे का। और शल्य लड़ने भी कैसे गये? लड़ने के पहले उन्होंने युधिष्ठिर से क्षमायाचना करना उचित समझा। युधिष्ठिर ने जब सब सुना तो कहा--"महाराज, आपको जो धर्म लगे सो कीजिए।'

शल्य ने कहा--'युधिष्ठिर, मैं क्या करूँ? बड़े असमंजस में पड़ गया हूँ। धर्म के बन्धन में बँध गया हूँ। और तुम तो जानते हो कि मैं धर्म का पालनकरनेवाला हूँ। फिर, तुम भी तो धर्म के रक्षक हो। आशा है, बुरा नहीं मानोगे। पर मैं चाहता हूँ कि तुम मुझसे कुछ माँग लो।'

युधिष्ठिर ने कहा--'मैं क्या माँगू?'

पर भगवान् श्रीकृष्ण ने छूटते ही कहा--'मामाजी, अगर आप आज्ञा दें, तो मैं इनकी ओर से कुछ माँग लूँ।'

शल्य ने कहा--'अच्छा, माँग लो।'

भगवान् बोले--'जब आप दुर्योधन की ओर से लड़ेंगे, तो निश्चय ही कर्ण आपको अपना सारथि बनाएगा। उस समय आप उस पर इतना व्यंग्य कसिएगा कि उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाय।'

शल्य ने कहा--'ठीक है, ऐसा ही होगा।'

उधर दुर्योधन का अन्न खाया तो कह दिया कि

दुर्योधन की ओर से लड़ेंगे और इधर श्रीकृष्ण से भी कह दिया कि तुम्हारी बात पूरी करेंगे। इससे तो यही अच्छा होता कि युधिष्ठिर की ओर से ही लड़ लेते। पर नहीं, उस समय लोगों ने धर्म को शब्दों में पकड़ रखा था।

जब शल्य कर्ण के सारथि बने, तो बड़ी तत्परता के साथ अपने इस धर्म का पालन करने लगे। कर्ण से उन्होंने पूछा--'महाराज, रथ किधर ले चलें ?'

कर्ण ने कहा--'अर्जुन के सामने।'

शल्य ने तुरत कहा--'क्या युधिष्ठिर के सामने चलें ?'

कर्ण जरा रुष्ट हो बोला--'तुमने सुना नहीं ? मैंने कहा, अर्जुन के सामने।'

शल्य पुनः बोले--'तो महाराज, फिर भीम के सामने, या नहीं तो नकुल के सामने ले चलूँ ?'

कर्ण बड़ा बिगड़ा। क्रोध में भरकर कहा--'तुम इतने बड़े मूर्ख हो, जरा सी बात नहीं समझते ! मैं तुमसे कहता हूँ- रथ अर्जुन के सामने ले चलो।'

तुरन्त शल्य ने शान्त भाव से कहा--'मैं तो सोचता हूँ, जब तक आप जीवित रहना चाहें, इन लोगों से लड़ लें और जब मरने का विचार आए, तो फिर चले चलेंगे अर्जुन के सामने। अभी इतनी शीघ्रता क्या है ?'

यह था शल्य का धर्मपालन और धर्म की रक्षा। धर्म का सही रहस्य न समझ पाने के कारण शल्य जैसा व्यक्ति भी धर्म को इस रूप में ले बैठा। अच्छा, हनुमानजी का मन्तव्य क्या था ? हनुमानजी तो धर्म के मूलतत्त्व

पर पहुंचे हुए हैं। वे सही मायने में धर्म के पालनकर्ता हैं। उन्होंने जानबूझकर रावण की वाटिका को उजाड़ा, इसलिए कि वे यह मानते ही नहीं कि वाटिका रावण की है। वे जिनकी वाटिका मानते थे, उनसे उन्होंने आज्ञा माँग ली। कहा——

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा।
लागि देखि सुंदर फल रूखा॥ ५/१६/७

हनुमानजी का तात्पर्य यह था कि वाटिका की स्वामिनी तो धरणीसुता जगज्जननी सीताजी हैं। रावण तो नकली स्वामी बना बैठा है। जो वास्तविक स्वामी हैं, उनसे आज्ञा माँगी——'माँ! यदि आप आज्ञा दें, तो फल खा लें।' माँ ने कहा, 'बेटा! वहाँ तो राक्षस पहरा दे रहे हैं।' हनुमानजी बोले, 'इन्हीं नकली पहरेदारों से तो मुझे लड़ना है।' और हनुमानजी जाकर फल खाते हैं तथा रावण की वाटिका उजाड़ डालते हैं। यह रामायण की एक सांकेतिक भाषा है। वाटिका केवल रावण की ही नहीं उजड़ती, सुग्रीव की भी उजड़ती है। रामायण में जितने प्रसग आये हैं, सब दोहरे आये हैं। उनकी तुलना करके देखिए। हनुमानजी ने रावण की वाटिका उजाड़ी और जब बन्दर भगवान् का काम करके लौटे, तो सबने मिलकर सुग्रीव की वाटिका को भी उजाड़ डाला और फल खाने लगे। दोनों स्थानों मे सादृश्य यह था कि पहरेदारों ने वहाँ भी रोका और यहाँ भी। वहाँ के पहरेदारों को हनुमानजी ने मारा और इधर सुग्रीव के

पहरेदारों की बन्दरों ने पिटाई की। और दोनों में अन्तर यह था कि जब रावण ने सुना कि पहरेदार पिट गये, तो उसे क्रोध आ गया। उसने कहा--'बन्दर को पकड़कर दण्ड दो।' और जब सुग्रीव के पहरेदारों ने उससे जाकर कहा--

जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुवराज ।। ५/२८

--'महाराज! अंगद ने बाग उजाड़ डाला,' तो--

सुनि सुग्रीव हरष कपि करि आए प्रभु काज ।। ५/२८

--सुग्रीव को क्रोध नहीं आया, वरन् हर्ष हुआ कि वानर प्रभु का कार्य कर आये हैं, जगज्जननी के पास से चले आ रहे हैं। यह वाटिका तो उन्हीं की है। मैं इतने दिनों तक मात्र रक्षक था। जो जननी के पास से अधिकार-पत्र लेकर आये हैं, उन्हें फल खाने का पूरा अधिकार है।

जिसने समस्त वस्तुओं का स्वामी ईश्वर को माना, उसी ने धर्म को ठीक ठीक समझा। हनुमानजी ने ही ठीक ठीक जाना कि वाटिका का अधिकारी रावण नहीं, श्री सीताजी हैं।

महाराज दशरथ महान् धार्मिक हैं। पर उनका धर्म उन्हें यह बताता है कि तुम राजा हो और राज्य तुम्हारा है। किन्तु श्री भरत कहते हैं--नहीं, राज्य पिताजी का नहीं है, और न किसी और का ही है। तो फिर राज्य है किसका?--

संपति सब रघुपति कै आही। २/१८५/३

--सारी सम्पत्ति रघुनाथजी की है। महाराज दशरथ

और श्री भरत में यही अन्तर था। भरतजी निर्णय लेते हैं कि राज्याभिषेक की सारी सामग्री वन में ले चलो। गुरुदेव वहीं पर भगवान् राम का राज्याभिषेक करेंगे।

कहेउ लेहु सबु तिलक समाजू।
बनहिं देव मुनि रामहि राजू॥ २/१८३/३

लोगों को बड़ा आश्चर्य होता है। इधर तो हम भगवान् राम को लौटा लाने जा रहे हैं और उधर भरतजी कहते हैं कि राजतिलक चित्रकूट में होगा। कैसी विचित्र बात है ! बात लोगों की समझ में नहीं आती। और आये भी कैसे ? इसका रहस्य तो भरतजी जैसे सन्त ही समझ सकते थे। वे धर्मसार के जाननेवाले जो थे। उनका तात्पर्य यह था कि महान् भूल तो यह हो गयी कि जो राज्य के वास्तविक स्वामी थे, उन्हें धर्म के नाम पर राज्य से निकाल दिया गया। आज प्रभु वन में हैं। राज्य पाकर बड़े होनेवाले लोग संसार में बहुत होते हैं। पर हमारे प्रभु तो पूर्ण हैं। उन्हें राज्य की कोई आवश्यकता नहीं। वे तो वन में भी पूर्ण हैं। किन्तु यदि राज्य को उनकी आवश्यकता है, तो राज्य स्वयं चलकर वन को जाय। उनके चरणों में नमनकर प्रार्थना करे कि प्रभो, आप मुझे स्वीकार कीजिए। राम को राज्य की आवश्यकता नहीं, राज्य को राम की आवश्यकता है, अतः राम का अभिषेक चित्रकूट में होगा, अयोध्या में नहीं। गुरु वसिष्ठजी को भरतजी की बात इतनी प्रिय लगी कि जब प्रभु चौदह वर्षों बाद वन से लौटे, तो वसिष्ठजी ने भरतजी की इस

भावना का पूर्ण निर्वाह किया। अयोध्या में राज्याभिषेक के समय जब प्रभु श्रृंगार कर चुके, तो गुरु वसिष्ठ के मन में उन्हें देखकर अनुराग उमड़ आया और उन्होंने आज्ञा दी--

प्रभु बिलोकि मुनि मन अनुरागा।
तुरत दिब्य सिंघासन मागा।। ७/११ १

--'जाकर सिंहासन ले आओ।' बात बड़ी उल्टी सी लगती है। राजा तो श्रृंगार कर स्वयं सिंहासन के पास जाता है, पर यहाँ गुरु वसिष्ठ कहते हैं कि सिंहासन को यहीं ले आओ। उनका तात्पर्य यह था कि जो सिंहासन पर बैठकर बड़ा होनेवाला है, वह भले ही स्वयं सिंहासन के पास जाय, पर जिसके बैठने से सिंहासन बड़ा होगा उसके लिए तो सिंहासन को ही स्वयं आना होगा।

भरतजी में अहम्मन्यता का सर्वथा अभाव है। यहाँ तक कि सात्त्विक अहं भी उनके जीवन में विद्यमान नहीं, जबकि महाराज श्री दशरथ मे सात्त्विक अहं की अभिव्यक्ति है, और इसीलिए महाराज दशरथ धर्म के अन्तर्द्वंद में पड़ जाते हैं। उनका संकल्प अधूरा रह जाता है। उन्हें इतनी ग्लानि होती है कि कह उठते हैं--

सो तनु राखि करब मैं काहा।
जेंहि न प्रेम पनु मोर निबाहा।। २/१५४/६

--'इस शरीर को रखने से लाभ ही क्या, जिसने मेरे प्रेम के प्रण को निभाया नहीं?' और वे शरीर त्याग देते हैं। जब रानियाँ शरीर त्यागने को प्रस्तुत होती हैं,

तो भरतजी माताओं के चरण पकड़ लेते हैं, कहते हैं—'तुम लोग तो शरीर त्याग दे सकती हो। शरीर के प्रति तुम्हारा तनिक भी मोह नहीं। पर जरा सोचकर देखो—महाराजश्री ग्लानि के कारण चल बसे, और हमारे प्रभु वन में हैं। जब प्रभु वन से लौटकर आएँगे, तो तुम लोगों को न देख उन्हें कितना अपार कष्ट होगा। प्रभु मुझसे कहेंगे कि तुमनें माताओं की रक्षा भी नहीं की। और फिर सोचो, यदि तुम जीवित रहकर उस कार्य को पूरा करो, जिसे महाराज करना चाहते थे पर कर न पाये, तो उन्हें कितनी महती प्रसन्नता होगी। पिताजी ने प्रभु को राज्य देने का संकल्प किया था। संकल्प को वे अधूरा छोड़ चले गये। अब तुम लोग जीवित रहकर इस संकल्प को पूरा करने में सहयोग दो।' भरतजी की यह व्याख्या माताओं को परास्त कर देती है और वे सभी श्रीराम के दर्शन की अभिलाषा से भरत का कहना मान लेती हैं। उन्हें लगता है कि श्रीभरत का दृष्टिकोण सही है—

गहि पद भरत मातु सब राखी।
रहीं रानि दरसन अभिलाषी॥ २/१६९/२

परिणामस्वरूप धर्म का एक नया रूप उपस्थित होता है, जिसे गोस्वामीजी नें 'धर्मसार' कहा और जो श्रीभरत के धर्म-बोध के रूप में हमारे समक्ष आता है।

•

स्वामी परमानन्द

डा० नरेन्द्र देव वर्मा

सन् १९०० के फरवरी या मार्च मास की यह घटना होगी। एक दिन सोलह वर्षीय एक किशोर बेलुड़ मठ में आया और उसने साधु बनने की इच्छा प्रकट की। मठ के साधु-ब्रह्मचारीगण बड़ी उलझन में पड़े। अभी तो इस बालक के दूध के दाँत भी नहीं गिरे हैं और यह साधु बनना चाहता है! आश्रमवासी किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सके और उन्होंने उस किशोर को रात्रिवास करने की ही अनुमति देते हुए कहा कि दूसरे दिन उसके सम्बन्ध में फैसला किया जाएगा। उस किशोर की आँखों में नींद कहाँ थी? सारी रात उसने पलकों में काट दी। उसका मन रात भर उधेड़-बुन करता रहा। प्रातःकाल नैश जागरण के फलस्वरूप उसकी आँखें लाल हो गयी थीं और निराशा की कालिमा उसके अमल-सरल मुख पर छा गयी थी। इतने में स्वामी विवेकानन्द जी ने उसे बुलाया। उस किशोर को देखते ही वे उसके हृदय की व्यथा को जान गये और बोले, "हाँ रे, क्या तू गीत गाना जानता है?" युगाचार्य की वत्सल-दृष्टि ने किशोर के हृदय के घनीभूत दुख को ठीक वैसे ही उड़ा दिया, जैसे तेज वायु बादलों को छिन्न-भिन्न कर देती है। वह तत्काल उस देवमानव के चरणों पर गिर पड़ा और फिर अपने हृदय की समस्त करुणा को स्वर में उड़ेलते हुए उसने एक गीत गाया—

चिनि ना जानि ना बूझि ना ताँहारे,

तथापि ताँहारे चाइ ।
(आमि) सज्ञाने अज्ञाने पराणेर टाने,
ताँर पाने छुटे जाइ ।।
दिगन्तप्रसार अनन्त आँधार,
आर कोथा किछु नाइ ।
(आमि) ताहार भितरे मृदु मधु स्वरे,
के डाके शुनिते पाइ ।।
आँधारे नामिया आँधार ठेलिया,
ना बूझिया चलि ताइ ।
आछेन जननी, एइ मात्र जानि,
आर कोनो ज्ञान नाइ ।।
किवा ताँर नाम, कोथा ताँर धाम,
के जाने कारे शुधाइ ।
ना जानि सन्धान, जोग ध्यान ज्ञान,
प्राणे मत्त हये धाइ ।।

—"न उन्हें जानता, न पहचानता, न समझता, फिर भी उन्हें चाहता हूँ । अनजान में हो या जान-बूझकर, प्राणों के आकर्षण से उनकी ओर दौड़ा जाता हूँ । यह सब ओर छाया हुआ अन्धकार अन्तहीन है, उसे छोड़कर और कहीं कुछ नहीं है । उस अन्धकार में कोई मृदुमधुर स्वर में बुला रहा है, यह मैं सुन पा रहा हूँ । इसीलिए अन्धकार में उतरकर, अन्धकार को ठेलकर, न समझते हुए चल पड़ता हूँ । इतना ही जानता हूँ कि माँ हैं, यह छोड़ और कुछ नहीं जानता । उनका क्या नाम है, उनका धाम

कौन सा है, पता नहीं यह किससे पूछूँ। न खोजना जानता हूँ, न योग, न ध्यान। न मुझमें ज्ञान है। प्राण के बल पर ही मतवाला होकर दौड़ रहा हूँ।"

स्वामीजी ने उस किशोर की अन्तर्निहित वैराग्य-भावना को समझ लिया। वे प्रसन्न हुए और उसे मठ में रहने की अनुमति दे दी। उन्होंने उस किशोर में अपने भावी लीलापार्षद को देखा था। अन्य मठवासी भी उनके निर्णय को सुन खुश हुए, और उस किशोर को तो मानो चिरवांछित धन ही मिल गया। जैसे वसन्त के आगमन से वनप्रान्तर एक नयी दीप्ति से भर उठता है, ठीक वैसे ही उस किशोर के मुख से आनन्द छलकनें लगा। तभी तो स्वामी ब्रह्मानन्द ने उसे 'वसन्त' कहकर पुकारा था। धीरे धीरे उस किशोर का पैतृक नाम लुप्त होता गया और सभी उसे 'वसन्त' के नाम से ही जानने लगे।

कुछ दिनों के उपरान्त वसन्त को स्वामी रामकृष्णानन्द के कार्य में सहायता करने के लिए मद्रास भेजा गया। रामकृष्णानन्दजी ने इस मातृहारा किशोर का बड़ी आत्मीयता के स्वागत किया। उनके चरणों कें समीप बैठकर वसन्त ने आध्यात्मिक जीवन का पाठ सीखा। किन्तु छह मास बीतते न बीतते उसे कलकत्ता लौटना पड़ा, क्योंकि उसके परिजनों का कथन था कि वह अभी नाबालिग है, इसलिए उसे मठ में नहीं रखा जा सकता। वसन्त जब कलकत्ता लौटा, उस समय स्वामी ब्रह्मानन्द अस्वस्थ थे। वह पूरी तन्मयता से उनकी परिचर्या में जुट

गया। उसकी सेवा से ब्रह्मानन्दजी शीघ्र ही स्वस्थ हो उठे।

एक दिन स्वामी विवेकानन्द बरामदे में बैठे थे। उन्होंने वसन्त को उधर से निकलते देख अपने पास बुलाया और पूछा, "खोका, क्या तू मेरे लिए भिक्षा माँगकर ला सकता है ?" वसन्त ने तत्काल हामी भरी। यह देख स्वामीजी बहुत प्रसन्न हुए और बोले, "बहुत अच्छा। तुम्हारे हाथ की भिक्षा पाकर मैं कितना खुश होऊँगा, यह तुम नहीं जानते। तुम्हें मैं भिक्षुक के वेश में देखना चाहता हूँ।" फिर कुछ क्षणों के बाद वसन्त को रोककर उन्होंने कहा, "ठहरो, तुम्हें पहली भिक्षा मैं ही दूँगा।" यह कह स्वामीजी रसोईघर की ओर गये और एक मुट्ठी चावल और दो-एक तरकारी भिक्षा के रूप में प्रदान कर उन्होंने अपनें नये शिष्य को आशीर्वाद दिया। गुरु से भिक्षा प्राप्त कर वसन्त अन्यत्र भिक्षा माँगनें चला। जब भीख लेकर वह मठ वापस लौटा, तब स्वामीजी उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने प्रेमानन्दजी से कहा, "भिक्षा का अन्न बड़ा शुद्ध होता है। इसीलिए ठाकुर भिक्षा का अन्न बहुत चाहते थे। बाबूराम, मैं आज वसन्त की भिक्षा का अन्न ही ग्रहण करूँगा।" फिर उन्होंने वसन्त को भिक्षान्न पकानें के लिए कहा। वे बार बार कहते रहे, "शुद्धचित्त ब्रह्मचारी की भिक्षा का अन्न बड़ा पवित्र होता है।" फिर उन्होंने बड़े प्रेम से वसन्त के हाथों भोजन ग्रहण किया।

वसन्त को स्वामीजो की सेवा करते हुए अधिक

दिन नहीं बीते थे कि उसे खबर मिली, उसकी बड़ी बहिन विधवा हो गयी है तथा उसके पिता दुःख से मृतप्राय हो उठे हैं। ब्रह्मानन्दजी ने यह सुनकर तुरन्त वसन्त को उसके घर भेज दिया। वसन्त को देख वृद्ध पिता के गमनोद्यत प्राण रुक गये। वह भी पूरी तत्परता से पिता की परिचर्या में जुट गया। उसकी सेवा से पिता धीरे धीरे स्वस्थ होने लगे, इसी बीच उसे स्वामी रामकृष्णानन्द की चिट्ठी मिली। उन्होने लिखा था--"मैं कुछ आवश्यक कार्य से कुछ दिनों के लिए कलकत्ता आ गया हूँ। स्वामीजी तुम्हारी बहुत याद करते हैं। एक बार उन्होंने मुझसे कहा भी है कि वह छोकरा इतने दिनों से क्यों घर में बैठा है?" यह पत्र पाते ही वसन्त ने अपने पिता को संन्यास-ग्रहण करने का अपना दृढ़ निश्चय निवेदित किया और उनका आशीर्वाद प्राप्त कर कलकत्ता रवाना हो गया।

सन् १९०१ के दिसम्बर महीने में एक दिन वसन्त एक वृक्ष के नीचे बैठा था। इतने में स्वामीजी उसके पास आये और उससे पूछा, "क्या रे, तू संन्यासी होना चाहता है?" वसन्त के आनन्द की सीमा न रही। उसने तत्काल उठकर स्वामीजी को प्रणाम किया और कृतज्ञता से गद्गद् होते हुए अपनी सहमति प्रकट की। सन् १९०२ के जनवरी मास की पूर्णिमा को रात्रि के पिछले प्रहर में युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द ने अपने युवा शिष्य को संन्यास के अग्नि-मंत्र में दीक्षित कर स्वामी परमानन्द बना दिया।

स्वामी परमानन्द का पूर्व नाम सुरेशचन्द्र था। उनका जन्म सम्भवतः सन् १८८४ में बरिशाल जिले के बानरीपाड़ा नामक गाँव में एक सम्भ्रान्त परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री आनन्दचन्द्र गुहठाकुरता बड़े धार्मिक व्यक्ति थे। सबसे छोटे पुत्र होने के कारण सुरेशचन्द्र माता-पिता के बड़े दुलारे थे। किन्तु नौ वर्ष की अवस्था प्राप्त करते ही उनकी माता चल बसीं। फलतः उनका लालन-पालन उनके पिता के द्वारा ही हुआ। वे कुछ समय कलकत्ता और ढाका में भी रहे। यथासमय सुरेश-चन्द्र को विद्याभ्यास के लिए विद्यालय भेजा गया। यद्यपि उनकी बुद्धि तीव्र थी, पर वे पढ़ने-लिखने की अपेक्षा खेलने-कूदने में ही अपना मन अधिक लगाते। उनमें निड-रता कूट-कूटकर भरी थी। विषाक्त सर्प को पूँछ पकड़-कर उठा लेना और चारों ओर घुमाकर फेंक देना उनके बाएँ हाथ का खेल था।

सुरेशचन्द्र का कण्ठस्वर बड़ा मधुर था। वे प्रायः अपने पिता को धर्मग्रन्थ पढ़कर सुनाया करते। उनके पिता के पास 'श्रीश्रीरामकृष्ण उपदेश' नामक पुस्तक थी। सुरेशचन्द्र इसे प्रतिदिन पढ़ा करते। धीरे धीरे युगावतार के अमृतमय उपदेशों ने शुद्धचित्त बालक की आध्यात्मिकता को अनावृत करना प्रारम्भ कर दिया। इसी बीच स्वामी विवेकानन्द के एक शिष्य स्वामी नित्यानन्द से उनकी भेंट हुई। इससे सुरेशचन्द्र के मन में संसार की असारता का बोध प्रगाढ़ हुआ और वे सर्वस्वत्यागी संन्यासी बनने

के लिए व्याकुल हो उठे। उन्होंने अपने पिता से संसार-त्याग करने की अनुमति भी माँगी थी, पर तब पिता ने उनका तिरस्कार करते हुए ऐसा विचार मन से निकाल देने के लिए कहा था। तथापि सुरेशचन्द्र के मन में आध्यात्मिकता की एक ऐसी शिखा प्रज्वलित हो उठी थी, जो किसी भी प्रकार के सांसारिक व्यवधानों से निर्वापित नहीं हो सकती थी। इसलिए पिता की ताड़ना और वात्सल्य एवं परिजनों का ममत्वपूर्ण स्नेह सुरेशचन्द्र को बाँधकर नहीं रख सका और एक दिन रात्रि के अन्धकार में वे संसार के बन्धनों का त्याग कर वीतरागिता के मार्ग पर बढ़ चले। जिस समय वे घर छोड़कर बेलुड़ मठ में साधु-जीवन बिताने की इच्छा से उपस्थित हुए थे, उस समय उनकी अवस्था मात्र सोलह वर्ष की थी।

यद्यपि स्वामी विवेकानन्दजी परमानन्द को अपने साथ बोधगया, वाराणसी आदि तीर्थों के भ्रमण में अपने साथ ले जाना चाहते थे, पर मद्रास में कार्यकर्ताओं की कमी को देखकर उन्होंने परमानन्द को रामकृष्णानन्दजी के साथ मद्रास भेज दिया। मद्रास में परमानन्द को स्वामी रामकृष्णानन्द के पुनीत साहचर्य में जहाँ आध्यात्मिक जीवन के गठन का सुयोग प्राप्त हुआ, वहाँ उनसे उन्होंने धर्मग्रन्थों की शिक्षा भी प्राप्त की। भगिनी निवेदिता परमानन्द की अल्पावस्था को देख उन्हें स्नेहपूर्वक 'बेबी संन्यासी' कहा करती थीं। युगाचार्य विवेकानन्द की महासमाधि की सूचना से परमानन्द के वक्ष पर वज्रप्रहार-सा

हुआ था। भगिनी निवेदिता और स्वामी सदानन्द से वे स्वामीजी के अनेकानेक प्रसंगों को सुनकर अपने दुःख को भूलने का उपक्रम करते। स्वामीजी की बातों को सुनने से उन्हें लगता कि स्वामीजी उनसे विलग नहीं हैं, प्रत्युत वे उनके साथ सदैव विद्यमान हैं।

शास्त्रपाठ, ध्यान-साधना एवं सेवा परमानन्द की दिनचर्या के प्रमुख अंग थे। अस्वस्थ एवं पीड़ित व्यक्ति के दुःख को दूर करने के लिए उनका हृदय द्रवित हो उठता। किसी की रुग्णता का समाचार पाते ही वे उसकी शय्या के समीप परिचर्या के लिए पहुँच जाते। उनकी परदुःखकातरता को देख रामकृष्णानन्दजी ने कहा था, "परमानन्द की पुनीत छाया के पड़ते ही मानो लोगों की व्याधि मिट जाती है।" एक बार उन्होंने परमानन्द को शीत से बचने के लिए ऊनी दुशाला दिया था। पर परमानन्द उसे ओढ़े नहीं दीखते थे। पूछने पर कहते कि उन्हें उतनी ठण्ड नहीं लग रही है। बाद में रामकृष्णानन्दजी को ज्ञात हुआ था कि परमानन्द ने किसी दरिद्र व्यक्ति को शीत से काँपते देख अपना दुशाला उसे दे दिया था। यह जानकर उन्होंने पुनः परमानन्द के लिए कलकत्ता से शाल मँगवा दिया। परमानन्द ने इसे बड़ी श्रद्धा से स्वीकार किया और इसे अपने साथ विदेश भी लेते गये।

मद्रास में स्वामी परमानन्द का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था। चिकित्सकों ने उन्हें वायु-परिवर्तन की सलाह दी। अतएव रामकृष्णानन्दजी ने उन्हें कुछ समय के लिए

कावेरीतट स्थित तंजोर में रहने के लिए भेजा। लोगों का विश्वास था कि प्राचीन काल में ऋषि अगस्त्य ने वहीं तपस्या की थी और वे आज भी सूक्ष्म देह में वहाँ निवास करते हैं। परमानन्द यहाँ लगभग तीन हफ्ते रहे। उन्हें यहाँ दिव्यानुभूति भी प्राप्त हुई थी।

सन् १९०४ में वे कलकत्ता आये और एक वर्ष वहाँ रहकर पुनः मद्रास लौट गये। सन् १९०६ में स्वामी अभेदानन्द के अमेरिका से भारत लौटने पर उनके साथ उन्होंने दक्षिण भारत के अनेक स्थानों में भ्रमण किया। अमेरिका में वेदान्त-प्रचार के लिए अभेदानन्दजी को सहायक की बड़ी आवश्यकता थी। वे परमानन्द को इस कार्य हेतु सर्वथा उपयुक्त समझते थे। अतएव वापसी में वे परमानन्द को अपने साथ अमेरिका लेते गये।

सन् १९०८ के दिसम्बर मास में स्वामी परमानन्द न्यूयार्क पहुँचे और वेदान्त-समिति के कार्यों में हाथ बँटाना प्रारम्भ किया। यहाँ वेदान्त-समिति के सदस्यों ने निर्जनवास एवं ध्यान-साधना के लिए एक पर्वत पर आश्रम की स्थापना की थी। परमानन्द बीच बीच में इस आश्रम में जाकर ध्यान-साधना किया करते।

सन् १९०९ में स्वामी विवेकानन्द की भक्त श्रीमती ओलीबुल के आमंत्रण पर परमानन्द बोस्टन पहुँचे। विवेकानन्दजी यहाँ एक वेदान्त-केन्द्र की स्थापना करना चाहते थे। परमानन्द ने यहाँ बहुत से व्याख्यान दिये तथा वेदान्त की भावधारा से बोस्टन के बौद्धिक वर्ग को अनु-

प्राणित कर दिया। वहाँ के निवासियों की उदार सहायता से परमानन्द ने वेदान्त-आश्रम की स्थापना की। उनके कुशल संचालन में यह आश्रम द्रुत गति से विकसित हुआ।

स्वामी परमानन्द की वक्तृता एवं साधुता से अमेरिकावासी बड़े प्रभावित थे। उन्होंने छह मास तक यूरोपीय देशों की भी यात्रा की थी तथा स्विट्झरलैण्ड और जर्मनी आदि देशों में वेदान्त-प्रचार किया था। उन्होंने बोस्टन से 'दि मेसेज़ ऑफ दि ईस्ट' नामक पत्रिका भी प्रकाशित की थी। इस पत्रिका से उनकी सम्पादन-क्षमता तथा वेदान्त पर उनके असाधारण अधिकार का ज्ञान होता है। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की भी रचना की, जिनमें 'पाथ ऑफ डिवोशन', 'वेदान्त इन प्रेक्टिस', 'दि वे ऑफ पीस एण्ड ब्लेसेडनेस' आदि उल्लेखनीय हैं।

सन् १९१४ मे बोस्टन स्थित वेदान्त-आश्रम को निजी भवन में स्थानान्तरित किया गया। सन् १९१६ में परमानन्द लॉस एंजेलिस् में पाँच मास रहे तथा उनकी प्रेरणा से वहाँ भी वेदान्त-केन्द्र स्थापित किया गया। इसी प्रकार अन्य अनेक स्थानों में भी उनके वक्तृत्व एवं महनीय जीवन से प्रभावित होकर लोगों ने वेदान्त-केन्द्र के गठन में भरपूर सहयोग दिया।

यद्यपि स्वामी परमानन्द अनेक बार भारत आये, पर उनका प्रधान कर्मक्षेत्र अमेरिका था। उनके त्याग और वैराग्य से भरे जीवन के समक्ष अमेरिकावासी श्रद्धा से अवनत थे। उनका स्वभाव बड़ा मृदुल, सरल और सहानु-

भूति से भरा था। वे किसी की निन्दा नहीं कर पाते। कहते, "मैं किसी की, नीचतम व्यक्ति की भी निन्दा नहीं कर सकता। मेरा कार्य उनसे स्नेह करना और उनकी सेवा करना है। धर्मजीवन में आलोचना और निन्दा के लिए कोई स्थान नहीं है।... दूसरों के कल्याण की चिन्ता करना और उनकी सेवा करना ही मेरे जीवन की साधना है।"

स्वामी परमानन्द शैशव से ही निर्भय थे। भय उन्हें छू तक नहीं गया था। तभी तो स्वामी रामकृष्णानन्द ने एक दिन विदेशी अभ्यागतों को उनका परिचय देते हुए कहा था, "यह ऐसा लड़का है, जो बिलकुल निडर है।" परमानन्द के जीवन में जिस अथक कर्मनिष्ठा का संचार हुआ था, उसके मूल में यही निर्भयता की भावना थी। उनके लिए कोई काम बड़ा नहीं था। "वे कहा करते, "मैं अपने भार को कम करने की याचना नहीं करता। मैं यही प्रार्थना करता हूँ कि मुझे इसको वहन करने की शक्ति प्राप्त हो। जीवन में मुझे महान् दुःख और कष्ट मिले हैं, तथापि यदि इस सबके द्वारा किसी का कल्याण साधित हो, तो मैं बार-बार यह सब स्वीकार करने के लिए तैयार हूँ। एक जीवन को नष्ट करना सरल है, पर एक आदर्श के लिए और मानवता के लिए इसे धारण करना कठिन है।"

स्वामी परमानन्दजी ने सुदीर्घ चौंतीस वर्षों तक अमेरिका में वेदान्त का अथक प्रचार किया था। प्रचार-कार्य से अवकाश मिलते ही वे ध्यान-साधना में लीन हो

जाया करते। सन् १९४० के २१ जून को वे बोस्टन से पहाड़ पर स्थित कोहासेट आश्रम में चले आये और अपनी ध्यान कुटी में प्रविष्ट हो गये। बहुत देर के बाद वे अपने कमरे से निकले और नीचे उतर कर भक्तों से कहने लगे, "मैं दूसरे लोक में चला गया था . . .।" इतना कहते ही वे अकस्मात् दोनों हाथ बढ़ाकर धरती पर मूछित हो गिर पड़े। उन्हें उठाने अनेक भक्तगण दौड़ पड़े। उनके अधरों पर अन्तिम शब्द आये, "नहीं, नहीं, मुझे अब पकड़ो मत।" भक्तों ने देखा कि उनके मुख पर एक अपूर्व कान्ति फैल गयी है, शरीर निःस्पन्द हो गया है और हृदय ने अपना कार्य बन्द कर दिया है; देखा कि युगाचार्य विवेकानन्द के एक अप्रतिम शिष्य ने अपना जीवन-कार्य समाप्त कर लिया है और वह पूरी शान्ति के साथ उनके पाद-प्रदेश में चिर विश्राम कर रहा है।

आत्मा का स्वरूप

(गीताध्याय २, श्लोक २३-२५)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत ।।२३।।

(एनं) इस [आत्मा] को (शस्त्राणि) शस्त्र (न छिन्दन्ति) नहीं काटते (एनं) इसको (पावकः) अग्नि (न दहति) नहीं जलाती (एनम्) इसको (आपः) पानी (न क्लेदयन्ति) नहीं गीला करता (च) और (मारुतः) पवन (न शोषयति) नहीं सुखाता ।

"इस आत्मा को शस्त्र नहीं काटते, इसे अग्नि नहीं जलाती, इसे पानी नहीं गीला करता और न पवन ही इसे सुखाता है ।"

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।२४।।

(अयम्) यह [आत्मा] (अच्छेद्यः) काटा नहीं जा सकता (अयम्) यह (अदाह्यः) जलाया नहीं जा सकता (अक्लेद्यः) गीला नहीं किया जा सकता (अशोष्यः च एव) और सुखाया भी नहीं जा सकता (अयं) यह (नित्यः) नित्य (सर्वगतः) सर्वव्यापी (स्थाणुः) स्थिर (अचलः) अचल (सनातनः) सनातन है ।

'यह आत्मा काटा नहीं जा सकता, यह जलाया नहीं जा सकता, यह भिगोया नहीं जा सकता और न यह सुखाया ही जा सकता है । यह नित्य, सबमें भिदा हुआ, स्थिर, अचल और सनातन है ।"

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।२५।।

(अयम्) यह [आत्मा] (अव्यक्तः) अव्यक्त (अयम्) यह (अचिन्त्यः) अचिन्त्य (अयम्) यह (अविकार्यः) विकाररहित (उच्यते) कहा जाता है (तस्मात्) अतएव (एनम्) इस [आत्मा] को (एवं) इस प्रकार (विदित्वा) जानकर (अनुशोचितुं) शोक करने के लिए (न अर्हसि) योग्य नहीं हो ।

"यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकारी कहा जाता है। अतः इसे एवंविध जानकर तुम्हें शोक करना उचित नहीं है।"

पिछले श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने आत्मा और शरीर के सम्बन्ध को समझाते हुए कहा कि जैसे मनुष्य जीर्ण वस्त्रों को त्यागकर नये पहन लेता है, उसी प्रकार यह देही आत्मा पुराने शरीरों को छोड़ नये शरीर ग्रहण करता है। जैसे कपड़े बदलते हैं, मनुष्य नहीं, उसी प्रकार शरीर बदलते हैं, आत्मा नहीं । अब प्रस्तुत तीन श्लोकों में आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि आत्मा क्यों नहीं बदलता । यह सारा ज्ञानात्मक विवेचन अर्जुन के शोक को दूर करने के लिए ही किया जा रहा है । शोक का कारण है मोह और मोह विवेक से ही भागता है । गोस्वामी तुलसीदासजी रामचरितमानस में कहते हैं--'होइ बिबेक मोह भ्रम भागा' । आलोच्य तीनों श्लोक हमारे समक्ष विवेक-बुद्धि का ही उद्घाटन करते हैं । विवेक तर्क से पुष्ट होता है । युक्ति का आधार लिये बिना विवेक का सम्पोषण नहीं हो पाता । इसीलिए यहाँ पर आत्मा के स्वरूप का वर्णन युक्तियुक्त प्रणाली से

किया गया है। यदि मन इस तर्क को समझ लेता है, तो वह देह-बोध से आक्रान्त नहीं होगा।

अर्जुन देह-बोध से पीड़ित था। गुरुजनों और सम्बन्धियों के शरीरों के प्रति आसक्ति के कारण उसका विवेक दब गया था। वह धैर्य खो बैठा था। जब धैर्य समाप्त होता है, तो साहस भी साथ छोड़कर चला जाता है। साहसहीन व्यक्ति के लिए एक छोटा सा गड्ढा भी सागर के समान दुस्तर हो जाता है। हताशा मन को घेर लेती है। ऐसे विकट समय में यदि हम मन को किसी प्रकार समझा सकें, तभी हम टूटने से बच सकते हैं। ऐसे ही समय सत्संग की आवश्यकता होती है, एक ऐसे व्यक्ति के साथ का प्रयोजन होता है, जो हमें समझाकर साहस प्रदान कर सके और हमारे बिखरते हुए मन को थाम सके। जीवन में विपत्तियाँ तो आती हैं, पर यदि हमारा आत्मविश्वास अनुपात में प्रबल हुआ, तो बड़ी से बड़ी विपत्ति भी हँसते-खेलते पार कर ली जाती है। किन्तु यदि आत्मविश्वास में कमी हुई, तो एक छोटी विपत्ति भी हम पर हावी हो जाती है और दुर्निवारणीय प्रतीत होती है।

अर्जुन ऐसी ही परिस्थिति से घिर गया था, वह देहासक्ति के बन्धन में बुरी तरह जकड़ गया था। इसी-लिए भगवान् कृष्ण सबसे पहले उसे ज्ञान का उपदेश देते हैं, देह की अनित्यता का बोध कराते हुए उसके समक्ष आत्मा के स्वरूप का उद्घाटन करते हैं और तर्क के बल

पर उसके विवेक को जगाने और प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हैं। वे कहते हैं--अर्जुन ! तू देह नहीं है, तू आत्मा है। कटने, जलनें, भीगने और सूखनेवाला तो शरीर है, आत्मा नहीं। शस्त्र केवल शरीर को छेदते हैं, आत्मा को नहीं। अग्नि देह को जलाती है, आत्मा को नहीं। जल शरीर को भिगोता है, आत्मा को नहीं। पवन देह को सुखाता है, आत्मा को नहीं। इस प्रकार इससे यह बताया गया कि पंचभूतों द्वारा आत्मा का विनाश सम्भव नहीं। ये पंचभूत हैं—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। आकाश सर्वव्यापी होने के कारण निःस्तब्ध है। वह उदासीन बना रहता है। शेष चारों भूत अपना अपना कार्य करते हैं। 'शस्त्र नहीं काटते' कहकर पृथ्वी-तत्त्व के द्वारा विनाश का अभाव सूचित हुआ; छेदनादि क्रिया पृथ्वी-तत्त्व के गुण से ही सम्भव होती है। 'अग्नि नहीं जलाती' यह कथन अग्नि-तत्त्व द्वारा आत्मा के विनाश का अभाव सूचित करता है। इसी प्रकार, जल-तत्त्व और वायु-तत्त्व के प्रभाव को आत्मा के विनाश के सम्बन्ध में नकारा गया।

यहाँ पर पूछा जा सकता है कि २३ वें श्लोक में व्यक्त अर्थ को पुनः ४२ वें श्लोक के पूर्वार्ध में क्यों दुहराते हैं ? इस पुनरुक्ति-दोष के निवारणार्थ एक प्रश्न उठाया जाता है कि भले ही इन चारों तत्त्वों द्वारा आत्मा का विनाश न होता हो, पर ये आत्मा पर अपना कुछ प्रभाव तो डालते ही होंगे ? जैसे किसी घर में आग

लगो, घर की सारी वस्तुएँ जल गयीं, पर भले ही घर के भीतर जो आकाश है, वह न जले, तथापि उसमें अग्नि के संसर्ग से कुछ उष्णता तो आ ही जाती है, वैसे ही भले ही आत्मा शस्त्र से न कटे, अग्नि से न जले, पर देह में रहने के कारण देह के कटने-जलने आदि का कुछ प्रभाव तो उसे व्यापता ही होगा? तो इसके उत्तर में कहते हैं—नहीं, आत्मा पर पंचभूतों की कोई छाया तक नहीं लग पाती। क्यों? इसलिए कि आत्मा 'अच्छेद्य', 'अदाह्य', 'अक्लेद्य' और 'अशोष्य' है। 'छेद्य' वह है, जो काटा जा सके, छेदा जा सके। छेदन उसका किया जा सकता है, जिसके अवयव हो। हम जब किसी वस्तु का छेदन करते हैं, तो उसका कुछ न कुछ अवयव कटकर गिरता ही है। बिना अवयव के अलग हुए किसी प्रकार की छेदन-क्रिया सम्भव नहीं। आत्मा में तो कोई अवयव नहीं, वह 'अव्यय' है, जैसा कि दूसरे अध्याय के इक्कीसवें श्लोक में कहा गया। इसीलिए आत्मा 'अच्छेद्य' है —उसे काटा ही नहीं जा सकता। 'दाह्य' उसे कहते हैं, जिसे जलाया जा सके। 'क्लेद्य' वह है, जो भिगोया जा सके, और 'शोष्य' वह है, जो सुखाया जा सके। इन सभी क्रियाओं में द्रव्य का स्पर्श-गुण अपेक्षित है। ताप, आर्द्रता और शुष्कता की संवेदना त्वचा से ही सम्भव होती है। त्वचा का धर्म है स्पर्श-गुण। आत्मा में कोई त्वचा तो है नहीं, जिससे उसमें स्पर्श-गुण पैदा हो सके। इसीलिए आत्मा 'अदाह्य' है—वह जलाया ही नहीं

जा सकता। वह 'अक्लेद्य' है--वह भिगोया ही नहीं जा सकता। वह 'अशोष्य' है--वह सुखाया ही नहीं जा सकता। इसीलिए पंचभूत आत्मा पर अपना कोई प्रभाव नहीं डाल पाते। इस प्रकार पुनरुक्ति दोष से रक्षा हो जाती है।

इस २४ वें श्लोक के पूर्वार्ध को समझने की एक दृष्टि और है। २३ वें श्लोक में कहा कि शस्त्र आत्मा को नहीं काटते। यह सुनकर एक विचार मन में उत्पन्न हो सकता है कि आज भले शस्त्र आत्मा को काटने में समर्थ न हों, पर विज्ञान के बल पर एक दिन ऐसे आणविक शस्त्र का निर्माण हो सकता है, जो आत्मा को छेद दे। इसी प्रकार, आज भले ही अग्नि आत्मा को न जला पाती हो, पर सम्भव है विज्ञान एक दिन इतने ताप वाली अग्नि को जन्म दे दे, जो आत्मा को जला दे। इसी प्रकार भविष्य में ऐसे द्रव और वाष्प का निर्माण सम्भव हो सकता है, जो आत्मा को भिगो दे और सुखा दे। जैसा कि हम पढ़ते हैं, विज्ञान के क्षेत्र में पहले परमाणु को, 'एटम' को unbreakable (न टूटनेवाला) माना जाता था। पर बाद में देखा गया कि ऐसा अभंजनशील 'एटम' भी टूट गया। तो, इसी प्रकार हो सकता है आज शस्त्र, अग्नि, जल एवं वायु का प्रभाव आत्मा पर न पड़ता हो, पर एक दिन ऐसा आ सकता है, जब आत्मा इन भूतों से प्रभावित हो जाय। ऐसी आशंका का निवारण आत्मा को 'अच्छेद्य' आदि कहकर किया गया है।

इससे ऐसा भी नहीं समझ लेना चाहिए कि आत्मा arm-proof (शस्त्र-निरोधक) या fire-proof (अग्नि-निरोधक) है, अथवा यह कि वह water-proof (जलरोधक) या air-proof (वायुरोधक) है। गीता के इस श्लोक का कहीं पर मैंने एक अंग्रेजी अनुवाद पढ़ा था, जिसमें 'अच्छेद्य' आदि के लिए 'आर्म-प्रूफ' आदि शब्द ही उपयोग में लाये गये थे। ध्यान रहे, 'फायर-प्रूफ' या 'वाटर-प्रूफ' आदि कहने से एक पदार्थ सूचित होता है, जो अग्नि या जल से भिन्न है। अपने से भिन्न इस पदार्थ पर अग्नि या जल आदि का प्रभाव नहीं होता, ऐसा अर्थ 'प्रूफ' शब्द से ध्वनित होता है। आत्मा ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जो जल, अग्नि आदि से पृथक् हो। वह तो सबमें भिदा हुआ है, सबके अधिष्ठान-रूप से स्थित है, यह २४ वें श्लोक के उत्तरार्ध में सूचित हुआ है। पदार्थ वह है, जो देश, काल और निमित्त की सीमाओं द्वारा बँधा होता है। किसी एक देश में उसे हम देखते हैं, एक विशिष्ट काल में उसका अनुभव करते हैं और कार्य-कारण-नियम (निमित्त) के द्वारा उसे जानते हैं। आत्मा 'सर्वगत' है, अतः वह देश की सीमा से परे है। वह 'नित्य' है, अतएव काल की सीमा उसे नहीं बाँध पाती। वह 'अचल' और 'सनातन' है, इसलिए कार्य-कारण-नियम भी अपना शासन उस पर नहीं चला सकता। इस प्रकार आत्मा पदार्थ के गुण-धर्म से परे है। अतएव उसे 'वाटर-प्रूफ' या 'एयर-प्रूफ' आदि कहना गलत है।

यहाँ पूछा जा सकता है कि २१ वें श्लोक में आत्मा के लिए 'अविनाशी', 'नित्य' और 'अव्यय' विशेषण जब प्रयुक्त हो चुके हैं, तब फिर से उसे 'अच्छेद्य', 'अदाह्य', 'नित्य' और 'सनातन' आदि विशेषणों से युक्त करने का क्या मतलब ? क्या यह पुनरुक्ति नहीं है ? आचार्य शंकर गीता पर अपने इस चौबीसवें श्लोक के भाष्य में इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं—"न एतेषां श्लोकानां पौन-रुक्त्यं चोदनीयम्"—'इन श्लोकों में पुनरुक्ति के दोष का आरोप नहीं करना चाहिए।' भला ऐसा क्यों ? इसलिए कि "दुर्बोधत्वाद् आत्मवस्तुनः पुनः पुनः प्रसंगम् आपाद्य शब्दान्तरेण तद् एव वस्तु निरूपयति भगवान् वासुदेवः कथं नु नाम संसारिणाम् अव्यक्तं तत्त्वं बुद्धिगोचरताम् आपन्नं सत् संसारनिवृत्तये स्याद् इति"—'आत्मतत्त्व बड़ा दुर्बोध है, सहज ही समझ में आनेवाला नहीं है। इसलिए भगवान् वासुदेव यह सोचकर कि किसी भी तरह वह अव्यक्त तत्त्व इन संसारी पुरुषों के बुद्धिगोचर होकर संसार की निवृत्ति का कारण बन जाय, बार बार प्रसंग उठाकर भिन्न भिन्न शब्दों से उसी तत्त्व का निरूपण करते हैं।'

चौबीसवें श्लोक के उत्तरार्ध में आत्मा के लिए पाँच विशेषण प्रयुक्त हुए हैं—नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल और सनातन, तथा पचीसवें श्लोक के पूर्वार्ध में तीन और विशेषण जोड़ दिये गये हैं—अव्यक्त, अचिन्त्य और अवि-कारी। ऐसे आठ विशेषण आत्मा के लिए लगाये गये हैं। इनमें कई शब्द एक दूसरे के समानार्थी प्रतीत होते हैं

और पुनरुक्ति मालूम होती हैं। पर भगवान् शंकराचार्य ने इसका स्पष्टीकरण कर ही दिया है। हम भी यह देखने का प्रयास करेंगे कि भले ही शब्दों के कुछ जोड़े समानार्थी दिखते हैं पर प्रत्येक का अपना विशिष्ट अर्थ है और अर्थों में सूक्ष्म अन्तर है।

सर्वप्रथम, इन आठ विशेषणों द्वारा यह बताया गया कि आत्मा पर किसी भी प्रकार की क्रिया का प्रभाव नहीं पड़ता। क्रिया का प्रभाव शरीर और मन पर पड़ता है--आत्मा पर नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण का तात्पर्य यह है कि 'अर्जुन, तुम युद्धरूपी क्रिया से क्यों घबड़ा रहे हो? वह तुम्हारे या तुम्हारे गुरुजनों अथवा आत्मीय-स्वजनों के आत्मा पर किसी प्रकार की विक्रिया पैदा नहीं कर सकेगी। क्रिया केवल शरीर और मन को विकारग्रस्त करती है। तुम तो आत्मा हो।' अब तर्क से देखें कि क्रिया का प्रभाव आत्मा पर क्यों नहीं पड़ता। यह विदित है कि क्रिया का प्रभाव वस्तुओं पर चार ही प्रकार से हुआ करता है, इसलिए कर्म के भी चार भेद हो जाते हैं--उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और प्राप्य। 'उत्पाद्य' वह है, जिसे उत्पन्न किया जाता है। 'कुम्हार घड़ा बनाता है' इस वाक्य में 'घड़ा' उत्पाद्य कर्म है। 'विकार्य' वह है, जिसमें वस्तु पहले से तो है, पर उसके रूप में परिवर्तन होता है। जैसे, 'रँगरेज कपड़ा रँगता है' इस वाक्य में 'कपड़ा' विकार्य कर्म है। रँगे जाने के पहले भी कपड़ा था और बाद में भी है। उसका उत्पादन नहीं होता। रँगकर उसके रूप को

परिवर्तित मात्र कर दिया जाता है। 'संस्कार्य' वह है, जिसमें वस्तु के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता, केवल उसके गुण में परिवर्तन लाया जाता है। जैसे, 'रसोइया चावल पकाता है' इस वाक्य में 'चावल' संस्कार्य कर्म है। उसके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता, केवल उसके गुण को बदला जाता है। पहले वह कठोर था, अब कोमल हो गया। 'विकार्य' में वस्तु का स्वरूप ही बदल जाता है--उसमें विकार होता है, और 'संस्कार्य' में वस्तु का गुण वदलता है। उपनयन-संस्कार संस्कार्य कर्म है। यहाँ बालक के वाहरी स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता, किन्तु उसकी बुद्धि में नये सस्कार डाले जाते हैं। 'प्राप्य' वह है, जो अप्राप्त है और जिसे उद्यमपूर्वक पाया जाता है। 'मनुष्य शहर गया' इस वाक्य में 'शहर' प्राप्य कर्म है। पहले शहर उसे अप्राप्त था, अब वह चलकर उसे प्राप्त कर लेता है। तो, आत्मा को उपर्युक्त विशेषण देकर यह बताया गया कि उस पर ऊपर कहे गये चारों प्रकार के कर्मों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आत्मा को 'नित्य' कहकर यह सूचित किया कि वह उत्पाद्य कर्म नहीं है। 'सर्वगत' कहने से यह अर्थ हुआ कि वह सबके भीतर है--सबमें गया हुआ है, अतः वह सबको सदैव प्राप्त है। इससे प्राप्य कर्म का अभाव सूचित हुआ। 'स्थाणु' से स्थिरता सूचित होती है अर्थात् वह, जो सदैव स्थिर रहे। जो हरदम स्थिर है, उसमें विकार सम्भव नहीं और इस प्रकार विकार्य कर्म का अभाव प्रदर्शित हुआ। 'अचल' विशेषण आत्मा

में संस्कार्य कर्म का भी निराकरण कर देता है। 'अचल' और 'स्थाणु' इन दो शब्दों में सूक्ष्म भेद है। स्थाणु वह है, जो खड़ा है, स्थिर है। पर ऐसे स्थाणु को भी गाड़ी में लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया सकता है, अर्थात् स्थाणु में भी चलायमानता उत्पन्न की जा सकती है। स्थाणु मे चलायमानता पैदा कर देना एक संस्कार्य कर्म होगा, क्योंकि उससे स्थाणु के स्वरूप में कोई विकार उत्पन्न नहीं होगा, केवल उसमें चलायमानता का एक गुण और जुड़ जायगा। आत्मा को 'अचल' विशेषण लगाकर स्थाणु की सम्भावित चलायमानता को दूर कर दिया और इस प्रकार संस्कार्य कर्म का अभाव सूचित किया।

अब पूछा जा सकता है कि यदि आत्मा का सम्बन्ध उपर्युक्त चारों प्रकार के कर्मों से न हो, तो उसकी सत्ता कैसे स्वीकार की जा सकती है? जो भी वस्तु सत्तावान् है, अस्तित्व में है, उसे इन चारों प्रकार के कर्मों में से एक न एक के साथ सम्बन्धित होना ही होगा, क्योकि सत्ता का लक्षण ही है अर्थक्रियाकारिता अर्थात्, जो किसी वस्तु का उत्पादन करता हो अथवा कोई क्रिया करता हो, उसी को सत् कहा जा सकता है। जिसमें किसी प्रकार की क्रिया न हो, उसकी सत्ता का प्रमाण कैसे दिया जा सकता है? इस दोष को दूर करने के लिए 'सनातन' विशेषण आत्मा के लिए प्रयुक्त किया। 'सनातन' का अर्थ होता है 'सदा रहनेवाला'। जो सदा अस्तित्व में

है, उसकी सत्ता-असत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता। वह स्वयंप्रकाश है। किसी को अपनी सत्ता के सम्बन्ध में संशय या भ्रम नहीं होता। एक विक्षिप्त भी कभी ऐसे सन्देह में नहीं पड़ता कि 'मैं हूँ या नहीं हूँ।' 'मैं हूँ' यह भाव आत्मा की सनातनता को प्रकट करता है। अतएव चारों प्रकार के कर्म-सम्बन्धों से अछूता रहकर भी यह आत्मा अस्तित्व में है और सनातन है।

यहाँ पुनः प्रश्न हो सकता है कि यदि आत्मा का अस्तित्व 'मैं हूँ' इस बोध द्वारा ही सूचित होता हो, तब तो वह अहं-ज्ञान का विषय हो गया? यह जो ज्ञान का विषय बनना है, इसे भी मनीषियों ने एक प्रकार का कर्म ही कहा है। इसे हम कर्म का पाँचवाँ प्रकार कह सकते हैं। ऊपर में हमने कर्म के चार प्रकार देखे--उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और प्राप्य, यह पाँचवाँ प्रकार उन चारों से भिन्न है। यह जानना-रूप कर्म है। मन में उठनेवाली ज्ञान या इच्छा की वृत्ति भी मन की क्रिया ही कहलाती है। तो, यदि आत्मा अहं-ज्ञान का विषय हो, तो वह इस पाँचवें प्रकार के कर्म से सम्बन्धित हो जायगा। तब तो उसका सर्वव्यापित्व बाधित हो जायगा। जो ज्ञान का विषय है, उसका इन्द्रियगम्य होना अवश्यम्भावी है, और जो इन्द्रियगम्य है, उसका देश, काल और निमित्त की सीमाओं द्वारा परिच्छिन्न होना भी स्वाभाविक है। आत्मा के सन्दर्भ में ज्ञान की विषयता-रूप इस दोष के निराकरण के लिए 'अव्यक्त', 'अचिन्त्य'

और 'अविकारी' विशेषण प्रयुक्त हुए हैं।

जानना-रूप इस पाँचवें कर्म के तीन प्रकार हैं, जिन्हें हम 'प्रमाण' भी कहते हैं। ये हैं--प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। 'प्रत्यक्ष' वह है, जिसे हम इन्द्रियों द्वारा ग्रहण कर सकें। जो व्यक्त हो, उसे इन्द्रियाँ भले ही पकड़ लें, पर जो अव्यक्त है, उसे वे कैसे पकड़ेंगी ? आत्मा को 'अव्यक्त' कहकर यह स्पष्ट कर दिया गया कि वह प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं। 'अनुमान' वह है, जिसे हम मन-बुद्धि की पकड़ में ला सकें। जो मन-बुद्धि से अगोचर हो, उसका अनुमान भला कैसे किया जाय ? आत्मा को 'अचिन्त्य' कहकर उसे अनुमान-प्रमाण की सीमा से बाहर ला दिया गया। 'शब्द प्रमाण' वह है, जो विधि-निषेध के द्वारा आत्मा का वर्णन करता है। हम शब्दों से कितना भी वर्णन करें, पर वर्णित विषय शब्दों से तद्रूप नहीं हो सकता। एक लौकिक उदाहरण ले लें। गुड़ की मिठास को हम शब्दों द्वारा कितना भी समझाने का प्रयास करें, पर वह शब्दों की पकड़ में नहीं आ सकती। हम शब्दों के माध्यम से विकारों का वर्णन करते हुए उस आत्मा को समझाने का प्रयास मात्र कर सकते हैं। पर आत्मा शब्दों की पकड़ में नहीं आ सकता। अतएव आत्मा को 'अविकारी' कहकर यह बता दिया गया कि वह शब्द-प्रमाण का भी विषय नहीं। इस प्रकार यह सूचित किया गया कि यह आत्मा पाँचवें कर्म का भी विषय नहीं है। ऊपर में आत्मा के जो आठ विशेषण दिये गये, उनकी यह एक प्रकार से संगति है।

संगति बिठाने की दूसरी प्रक्रिया यह है कि आत्मा को 'नित्य' कहकर उसकी अविनाशिता सूचित की। पर नैयायिक लोग तो परमाणु को भी नित्य मानते हैं। तो क्या आत्मा परमाणु के समान ही नित्य है? परमाणु से आत्मा का भेद करने के लिए उसे 'सर्वगत' कहा। परमाणु भले नित्य हो, पर वह आत्मा के समान सर्वव्यापी नहीं है। तब विचार उठा कि काल भी तो नित्य और सर्व-व्यापी है, तो क्या आत्मा काल से अभिन्न है? आत्मा का काल से भेद करने के लिए उसे 'स्थाणु' कहा। आत्मा स्थिर है, जबकि काल चलायमान है। काल में व्यवहार के लिए वर्ष, मास, दिन, घण्टा, मिनट, पल आदि का भेद आरोपित किया जाता है। यह सब अस्थिर है। जो दिन आज है, वह कल नहीं। इसलिए काल से पृथक् करने के लिए आत्मा को 'स्थाणु' कहा। पर सन्देह हुआ कि सांख्य-वादियों की 'प्रधान' कहलानेवाली प्रकृति भी तो नित्य और सर्वगत होने के साथ साथ स्थाणु है, वह भी स्थिर है। तो क्या आत्मा और इस प्रकृति में कोई भेद नहीं है? दोनों का भेद सिद्ध करने के लिए कहा कि आत्मा 'अचल' है। प्रकृति स्थिर भले हो, पर उसमें विकार होता है और इसलिए उसमें चलायमानता है। तभी तो उससे महत्, अहंकार आदि निकलकर इस जगत् का निर्माण होता है। आत्मा को 'अचल' कहकर प्रकृति से उसकी भिन्नता स्था-पित कर दी। तब प्रश्न उठा कि आकाश में भी तो ये सारे गुण विद्यमान हैं--आकाश नित्य है, सर्वगत है, स्थाणु

और अचल है, तो क्या आकाश ही आत्मा है? आत्मा को आकाश से पृथक् करने के लिए कहा कि वह 'सनातन' है। भले ही आकाश की व्यावहारिक नित्यता मानी जाय, पर वस्तुतः वह सदा रहनेवाला नहीं है। श्रुतियों में उसकी भी उत्पत्ति की बात कही गयी है। मुण्डकोपनिषद् (२/१/३) कहता है--

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥

--'इस अक्षर पुरुष से ही प्राण उत्पन्न होता है तथा इससे ही मन, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और सारे संसार को धारण करनेवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है।' तो, यह आकाश भी evotute है, विकास की एक स्थिति है, जबकि आत्मा 'सनातन' है--सदैव रहनेवाला है।

इस प्रकार आत्मा की सबसे विलक्षणता बतलायी गयी। अब प्रश्न होता है कि ऐसा विलक्षण आत्मा–नित्य सनातन और सर्वगत आत्मा--अनुभव में क्यों नहीं आता? उसकी अनुभूति की कठिनाई यह है कि वह लौकिक प्रमाणों से--प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणों से ज्ञेय नहीं है, इसीलिए उसे 'अव्यक्त', 'अचिन्त्य' और 'अविकारी' कहा, जिसकी व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं।

आत्मा को 'सनातन' कहने का एक अभिप्राय और है। 'सनातन' शब्द का अर्थ है--सदा एक रूप रहनेवाला। जो सदैव एकरस है, उसमें सजातीय, विजातीय और स्वगत इन तीनों भेदों के लिए कोई स्थान नहीं। सजातीय

भेद वह है, जैसे मनुष्य-मनुष्य में भेद। विजातीय भेद वह है, जैसे मनुष्य और इतर प्राणियों में भेद। और स्वगत भेद वह है, जैसे मनुष्य के शरीर में अंग-प्रत्यंगों का भेद। अब, आत्मा न तो अनेक है, न आत्मा से भिन्न और कोई है, न आत्मा के कोई अंग-प्रत्यंग है। अतः आत्मा में तीनों भेदों का आत्यन्तिक अभाव है, इसलिए उसे 'सनातन' कहा।

अर्जुन को ऐसा युक्तियुक्त ज्ञान देकर भगवान् उसकी बुद्धि में आत्मा के स्वरूप को दृढ़ रूप से अंकित कर देना चाहते हैं, ताकि वह देहासक्ति से उत्पन्न शोक को दूर कर सके। भगवान् उससे कहते हैं--आत्मा को इस प्रकार जानकर तुम्हें शोक करना उचित नहीं।' आत्मज्ञान ही शोक और मोह को दूर करने का एकमात्र रसायन है। यदि हम उपर्युक्त विधि से आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करें और तर्क के द्वारा उसे अपनी बुद्धि में दृढ़मूल कर लेने का प्रयास करें, तो हमारी भी देहासक्ति न्यून होगी और हमें ऐसा लगेगा कि देह हमारे लिए एक कारागार के समान है। 'देह और मन से भिन्न तथापि देह और मन में स्थित मैं आत्मतत्त्व हूँ' ऐसा बोध हममें जितना स्पष्ट होगा, हम देह और मन की पकड़ से उतनी मात्रा में मुक्त होंगे।

यदि देह और मन से विलगाव का भाव आज हममें दृढ़ न हो सके, तो हमें क्या करना चाहिए, इसका उपाय भगवान् श्रीकृष्ण अगले श्लोकों में बताते हैं।

●

शक्ति का उन्मेष

श्रीमती गोपीकुमारी बिड़ला

शक्ति की उपासना सारे विश्व में होती है। भक्ति, क्षमा, दया, लक्ष्मी आदि सभी शक्ति के ही रूप हैं, ऐसा 'दुर्गा सप्तशती' में कहा है। प्रकृति और पुरुष से संसार का निर्माण होता है। बिना प्रकृति के पुरुष अधूरा है। सृजन एक शक्ति है और विनाश भी। जब सृजनात्मक शक्ति का विकास होता है, तब सृजन की क्रिया चलती है और विध्वंसक शक्ति के विकसित होने पर विनाश का कार्य हुआ करता है। देखने और समझने का विषय यही है कि शक्ति का मोड़ किस ओर हो। बुद्धि भी शक्ति का ही रूप है। बुद्धि और विवेक के समन्वय से बुद्धि का सदुपयोग होगा; दया, करुणा और समता की वृत्तियाँ जागृत होंगी और परमार्थ का पथ प्रशस्त होगा। त्याग और तप से श्रद्धा का प्रादुर्भाव होता है। श्रद्धा विश्वास की पत्नी है और विवेक की माता। जब तक हृदय में श्रद्धा एवं विश्वास उत्पन्न नहीं होगा, विवेक का जन्म नहीं हो सकता। रामचरितमानस में कहा है--

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥

एक वार शिवजी भ्रमण करने गये थे। पार्वतीजी स्नान करने बैठीं, तो उन्होंने अपने शारीरिक मल का पुतला बनाकर स्नानागार के बाहर प्रहरी के रूप में स्थापित कर दिया और उस पुतले को आदेश दिया कि चाहे कोई भी आये, उसे मेरी अनुमति के बिना अन्दर

नहीं आने देना। शिवजी जब भ्रमण करके वापस लौटे, तो अन्दर जाने लगे। उस मनोमल के पुतले ने उन्हें रोका। मन में जो मल होता है, वह विश्वास के श्रद्धा के पास जाने में रुकावट डालता है, क्योंकि वह जानता है कि यदि श्रद्धा और विश्वास मिलकर एकाकार हो जाएँगे, तो मन की मलिनता नहीं ठहर सकेगी, अविवेक नहीं रह पाएगा। श्रद्धा और विश्वास के इस मिलन से जिस सन्तान का जन्म होगा, वह विवेक ही होगा। पर यह ध्यान रखें कि बिना अविवेकरूपी मलिनता के नष्ट हुए विवेक का जन्म सम्भव नहीं। अन्धकार के नष्ट होने पर ही प्रकाश का जन्म होता है। बुद्धि में जब विवेक का प्रकाश आता है, तभी उसका सदुपयोग हो पाता है। ऐसी सद्बुद्धि में अपने आप सद्गुणों का प्रादुर्भाव होता है और ये सद्गुण हमें सत्कार्य में प्रेरित करते हैं।

श्रद्धा-शक्ति का जब विश्वास-शक्ति से योग होता है, तब एक और फलोपलब्धि होती है,——तब कर्म में कुशलता प्राप्त होती है। गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं——"योगः कर्मसु कौशलम्", अर्थात् कार्य में कुशलता ही योग है। यह योग मन और बुद्धि को, जीव और ब्रह्म को, प्रकृति और पुरुष को एक करने से सधता है और तभी माया-रूपी नर्तकी का मोहावरण दूर हो सकता है।

जब हम किसी कार्य को प्रारम्भ करें, तो सबसे पहले हमें अपनी रुचि और स्वभाव को टटोल लेना चाहिए। जिस कार्य में हमारी रुचि होगी, उसे हम सुचारु रूप से

कर सकेंगे। यह रुचि ही कार्य के प्रति हमारी एकनिष्ठ भावना को तीव्र करती है। रुचि से मनोयोग साधित होता है। बिना मनोयोग के न इंजीनियर कारखाना चला सकता है, न ड्राइवर कार, न ही रसोइया भोजन पका सकता है। बिना मनोयोग के कार चलाने से ड्राइवर दुर्घटना कर बैठेगा और रसोइये में यदि मनोयोग न हो, तो भोजन सुस्वादु नहीं बन सकेगा। मनोयोग ही साधना को साध्य से युक्त करता है। जीवन में कठिनाइयां तो आया ही करती हैं, पर अपनी लगन और रुचि के बल पर हम इन कठिनाइयों से जूझने की क्षमता प्राप्त कर ले सकते हैं।

मनुष्य कभी निष्क्रिय नहीं रह सकता, कार्यरत रहना उसका स्वभाव है। उसका हृदय कभी खाली नहीं रहता। निराकार सत्ता, निर्विषय ज्ञान, भोक्ता-भोग्य-रहित आनन्द --यह सब हृदय में भासित नहीं हो पाता। वृत्ति का स्वभाव है अपने में किसी न किसी विषय को लपेटना। हृदय का स्वभाव है किसी न किसी को प्यार करना। ज्ञान का स्वभाव है विषय को प्रकाशित करना, और सत्ता का स्वभाव है आकारवान् होकर दृष्टिगोचर होना। यदि हम हृदय में परमात्मा को नहीं बिठाएँगे, तो वहाँ धन, परिवार, यश या अपने शरीर के प्रति आसक्ति अपना आसन जमा लेगी। अतएव जो समझदारी से अपने हृदय में परमात्मा को बिठा लेता है, उसके हृदय में संसार नहीं प्रवेश कर पाता। ममत्व जीव का स्वभाव है, पर

यदि उसका योग परमात्मारूपी समत्व से कर दिया जाय, तो संसार की सभी वस्तुओं में वह प्रेमास्पद भगवान् ही दृग्गोचर होने लगता है। तब जीवन के राग-द्वेषादि द्वन्द्व अपने आप छूट जाते हैं और हृदय में भक्ति की निर्मल धारा प्रवाहित होने लगती है, जिससे जीव परम शान्ति का अधिकारी बन जाता है।

इस स्थिति को प्राप्त करनें के लिए सत्संग की आवश्यकता होती है। यह सत्संग भगवत्कृपा से प्राप्त होता है। भगवान् की यह कृपा हमारे जीवन में सद्गुरु के, सन्त-महात्माओं के रूप से आती है। सद्गुरु मिलने से हमारी जीवन-नौका शीघ्र ही किनारे लग जाती है। सद्गुरु हमारे जीवन में शक्ति का उन्मेष कर देते हैं, जो क्रमशः श्रद्धा-भक्ति और विवेक-वैराग्य के रूप में प्रस्फुटित हो हमें परम शान्ति और परम आनन्द का अधिकारी बना देती है।

•

यदि तुम वास्तव में पवित्र हो तो तुम्हें अपवित्रता कैसे दिखाई दे सकती है ? कारण, जो भीतर है वही बाहर दीख पड़ता है। हमारे अन्दर यदि अपवित्रता न होती तो हम उसे बाहर कभी देख ही न पाते। वेदान्त का यह एक व्यावहारिक पहलू है। आशा है, हम सभी लोग जीवन में इसको व्यवहार में लाने की चेष्टा करेंगे।

—स्वामी विवेकानन्द

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्‌चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) समदर्शिता

सन्त एकनाथजी स्पृश्यास्पृश्य बिलकुल नहीं मानते थे, बल्कि सबको समान भाव से देखा करते थे। एक बार एक हरिजन-कन्या उनके पास आयी और बड़े ही भक्ति-भाव से उनसे बोली, "मैंने सुना है कि आपके घर में भगवान् पानी भरते हैं, मगर मुझे तो वे कभी दिखायी ही नहीं देते। दिखायी भी देंगे कैसे? मैं आपकी तरह कोई सन्त-महात्मा थोड़े ही हूँ। मैं तो आपको ही भगवान् मानूँगी। मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी, यदि आप मुझ गरीब की झोपड़ी में पधारकर हमारी रूखी-सूखी रोटियों और चटनी का स्वाद चखेंगे।" एकनाथजी ने उसे सहर्ष स्वीकृति दे दी। वे उसके घर गये और उन्होंने बड़े ही आनन्द से उसके घर भोजन किया।

बात गाँव भर फैल गयी कि एकनाथजी नें हरिजन के घर भोजन किया है। यह बात भला धर्मान्ध पण्डितों को कैसे रुचती? वे क्रोधित हो गये और उन्होंने एकमत में निर्णय लिया कि चूँकि इस ब्राह्मण ने हरिजन के घर जाकर भोजन किया है, इसलिए वह भ्रष्ट हो गया है और अब 'ब्राह्मण' नहीं रहा, इस कारण उसका बहिष्कार किया जाय। किन्तु एकनाथजी पर इसका कोई असर नहीं पड़ा।

कुछ दिनों के बाद पितृपक्ष आया। एकनाथजी नें प्रतिवर्ष की भाँति ब्राह्मणों को आमंत्रित किया, पर वे लोग एक भ्रष्ट ब्राह्मण के घर भला कैसे आते? उन्होंने

आने से साफ इन्कार कर दिया। इससे एकनाथजी बिलकुल विचलित नहीं हुए। उन्होंने पितरों का आह्वान किया और पैठण गाँव के सभी ब्राह्मणों के मृत पिता, दादा परदादा भोजन करने आये। बात जब उन ब्राह्मणों को मालूम हुई, तो वे बड़े ही लज्जित हुए। उन्होंने एकनाथजी से क्षमा माँगी और उनके साथ पूर्ववत् सारा व्यवहार करने लगे।

(२) स्वावलम्बन

गुलामवंशीय नासिरुद्दीन बादशाह अत्यन्त सच्चरित्र और धर्मनिष्ठ था। उसने आजीवन राजकोष से एक भी पैसा न लेकर अपनी हस्तलिखित पुस्तकों से जीवन-निर्वाह किया। भारत का इतना बड़ा बादशाह होने पर भी अन्य मुसलमानों और शासकों के रिवाज के विपरीत उसके एक ही पत्नी थी। घरेलू कार्यों के अलावा रसोई भी स्वयं बेगम को ही बनानी पड़ती थी। एक बार रसोई बनाते समय बेगम का हाथ जल गया। उसने बादशाह से कुछ दिनों के लिए रसोई बनाने के लिए एक नौकरानी रख देने की प्रार्थना की। मगर बादशाह ने उसे अस्वीकार करते हुए कहा, "राजकोष पर मेरा कोई अधिकार नहीं है, वह तो प्रजा की ओर से मेरे पास धरोहर मात्र है और धरोहर में से अपने कार्यों के लिए व्यय करना अमानत में खयानत है। बादशाह को ही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति को स्वावलम्बी होना चाहिए। अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिए स्वयं को कमाना चाहिए। जो

बादशाह स्वावलम्बी न होगा, उसकी प्रजा भी अकर्मण्य हो जायगी, इस कारण मैं राजकोष से एक पैसा भी नहीं ले सकता। मेरे हाथ की कमाई सीमित है, इसलिए तुम्हीं बताओ, हमसे नौकरानी कैसे रखी जा सकती है?" बेगम भी अपने पति की ही तरह थी। उसे बात जँच गयी और उसने फिर कभी नौकरानी रखने की बात नहीं कही।

(३) शक्ति का प्रयोग

मुगल बादशाह बाबर के सैनिकों ने एमनाबाद शहर के पास पड़ाव डाला। तब उसके सैनिकों ने शहर में जाकर न केवल उत्पात मचाया, बल्कि निरीह जनता को घोड़ों के टापों तले रौंद डाला। उन्होंने बहुत सारा सामान लूटा और उसे ढोने के लिए वे लोगों को पकड़ने लगे। गुरु नानक का मुकाम भी उस समय एमनाबाद में ही था। अकस्मात् वे उधर से निकले और सारा दृश्य देखकर उनके मुख से ये शब्द निकले--"सत्य नाम कर्ता पुरुष!" सैनिकों नें जब उन जैसे हट्टे-कट्टे व्यक्ति को देखा, तो उन्हें भी सामान ढोनें के लिए पकड़ा, किन्तु नानकदेव ने सामान ढोना अस्वीकार कर दिया। तब उन्हें एवं दूसरों को सैनिकों ने बन्दी बना डाला।

कारागार में नानकदेव कें तेज के सामने जेलर तथा पहरेदार नतमस्तक हो गये। बात बाबर के पास पहुँची कि किसी साधु को बन्दी बनाया गया है। वह उनकी कोठरी के पास गया और उसने उनके सम्मुख शीश झुकाया। इस पर नानक बोले, "उस अकाल पुरुष को

आदाब बजाओ, शहंशाह !" बाबर ने नानकदेव की ख्याति सुनी थी, किन्तु उनके दर्शन अब तक नहीं किये थे। वह समझ गया कि निश्चय ही ये गुरु नानक हैं। वह बोला, "हमारे सैनिकों ने आपके साथ जो गुस्ताखी की है, उसका मुझे सख्त अफसोस है और उसके लिए मैं मुआफी चाहता हूँ।"

इस पर नानकदेव बोले, "मुआफी तो आपको उस बन्दे से माँगनी चाहिए, जिसकी सृष्टि को तुमने रौंद डाला है, निरीह जनता का तुमने कत्ल किया है। मुआफी तो उन बेगुनाह लोगों से माँगो, जिनको तुमने बेवजह यहाँ कारागार में डाल रखा है।"

"मुझे सचमुच ही बड़ा अफ़सोस है, गुरुदेव !" बाबर पश्चात्ताप-दग्ध शब्दों में बोला, "मैं आपको जबान देता हूँ कि अब कभी भी बेगुनाह लोगों को तंग नहीं करूँगा।"

तब नानकदेव बोले, "अपनी ताक़त का प्रयोग गरीबों को सताने के लिए नहीं, बल्कि उनका दिल जीतने के लिए करना चाहिए, शहंशाह ! तभी अल्लापाक की दरगाह में पहुँच हो सकती है।" बाबर ने हामी भरी और न केवल उन्हें तथा अन्य लोगों को रिहा किया, बल्कि स्वयं उन्हें आदर सहित नगरसीमा तक पहुँचा आया।

(४) दान-महिमा

एक बार पैगम्बर मुहम्मद साहब ने कहा, "ईश्वर ने जब धरती बनायी, तो वह हिलती और काँपती थी। कम्पन–निवारणार्थ उसने उस पर पहाड़ बनाया।"

यह सुन एक जिज्ञासु ने पूछा, "आपकी दृष्टि में पर्वत से भी कोई मजबूत वस्तु है ?"

"हां है और वह है–लोहा," पैगम्बर साहब ने जवाब दिया ।

"क्यों ?" जिज्ञासु ने पूछा ।

"इसलिए कि वह पर्वत को काटता है ।"

"लोहे से मजबूत ?"

"अग्नि"

"क्यों ?"

"इसलिए कि वह लोहे को गला देती है ।"

"अग्नि से मजबूत ?"

"जल, क्योंकि वह अग्नि को बुझा देती है ।"

"जल से मजबूत ?"

"हवा"

"क्यों ?"

"इसलिए कि वह जल को चलाती है ।"

"हवा से मजबूत ?"

"दान"

"वह कैसे ?"

"यदि कोई दाहिने हाथ से दान दे और बायां हाथ उसे न जान पाये, तो वह हवा पर क्षमता पा जाता है ।"

"दान क्या है ?"

"प्रत्येक सद्गुण दान है ।"

"इसे जरा स्पष्ट करें"

"अपने भाई के सामने हँसमुख रहना दान है; अपने साथियों से सदाचरण करने के लिए कहना दान है; भूले व्यक्ति को मार्ग दिखाना दान है; अन्धे व्यक्ति की सहायता करना दान है; मार्ग से काँटा हटाना दान है; प्यासे को पानी देना दान है, आदि आदि।

"मेरी माँ मर गयी है," वह जिज्ञासु बोला, "भला बताएँ, मैं उसके लिए क्या दान कर सकता हूँ?"

"जलदान," पैगम्बर ने उत्तर दिया।

और उस व्यक्ति ने एक कुआँ अपनी माँ के नाम पर खुदवा दिया।

•

सुख-मीमांसा

स्वामी बलरामानन्द, रामकृष्ण मिशन

(गतांक से आगे)

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों की सुख-विषयक धारणाएँ :–

सुख-स्नायु और मन में केन्द्रित :– आधुनिक मनोवैज्ञानिक सुख को मन और स्नायुओं में ही सीमित समझते हैं। उनके एक सिद्धान्त के अनुसार सुख स्नायविक उद्दीपना पर निर्भर करता है।

सुख की उद्दीपना अति तीव्र या अति मन्द होने से उसकी अनुभूति नहीं हो पाती। इसी प्रकार एक ही विषय को कोई दीर्घकाल तक अनवरत नहीं भोग सकता, क्योंकि उसके स्नायु थक जाते हैं और मन में भी तात्कालिक जड़ता और विरक्ति आ जाती है। इसलिए मन को विषय अदल-बदलकर सुख-भोग अच्छा लगता है। किन्तु विषय में अचानक बदल भी कभी कभी दुःखप्रद सिद्ध होता है। किसी कारणवश यदि कोई सुखद उद्दीपना एक बार दुःखदायी बन जाय, तो इससे उस व्यक्ति में उस विषय के प्रति सदा के लिए तीव्र घृणा हो जाती है। इसी प्रकार कोई दुःखद उद्दीपना भी अभ्यास के द्वारा सुखद हो सकती है, जैसे मद्यपानादि। इसी को "अभ्यासात् रमते तत्र"* कहकर व्यक्त किया गया है।

सुसंगति से सुख :– संगीत के स्वरों की सुसंगति सुखद होती है, किन्तु विसंगति पीड़ादायक। हर्बर्ट के सिद्धान्तानुसार सुसंगत विचार अथवा भाव जितने सुखद हो सकते

---

* श्रीमद्भगवद्गीता, १८। ३६

हैं, विरोधी विचार या भाव उतने ही दुःखदायी; क्योंकि वे व्यक्ति के मस्तिष्क-स्थित स्नायु-तन्तुओं में सुगमता से प्रवाहित नहीं हो पाते। वार्ड के सिद्धान्त के अनुसार विषय-सुख मनोयोग (attention) पर निर्भर करता है।

उनके और एक सिद्धान्त के अनुसार परिथीय स्नायुओं (peripheral nerves) के अन्तिम अंश में कुछ विशेष संवेदना-शक्ति होती है, जिसके कारण सुखद् अथवा दुःखद अनुभूतियां हुआ करती हैं। इसीलिए वे कहते हैं कि सुख अथवा दुःख की अनुभूति स्नायु-प्रवाह की शक्ति पर निर्भर है।

हाईपोथेलेमस में सुख का केन्द्र :– कुछ मनोवैज्ञानिक सुखद अनुभूतियों का केन्द्र स्नायुओं के अन्त में नहीं, बल्कि मस्तिष्क में मानते हैं। उदाहरणार्थ, वे कहते हैं कि एक बार किसी दुःखी और आत्महत्या करने के लिए उद्यत व्यक्ति के मस्तिष्क के विशिष्ट केन्द्र में विद्युत् प्रवाह प्रवाहित करने पर वह बोल उठा, "अहा! कितना बढ़िया सुख है! लैंगिक-सुख से भी बढ़िया!!† बाद में वाल्टर हेज नामक मनोवैज्ञानिक ने मस्तिष्क के हाइपोथैलेमस (Hypothelamus) विभाग के एक अंश में इस सुखद केन्द्र को अवस्थित बतलाया। चूंकि इस केन्द्र को विद्युत्-प्रवाह के द्वारा उद्दीपित करने से सुखद अनुभूति होती है, इसलिए उसे 'River of reward' का नाम दिया गया।‡ किन्तु वे

† Readers Digest, February 1972, P. 25

‡ Nigel Calder, The Mind of Man, 1970, P. 50

इस केन्द्र को प्राणियों के कामज तथा क्षुधा और तृष्णा से होनेवाले सुखों का ही केन्द्र समझते हैं; क्योंकि क्षुधा, तृष्णा और काम की प्रेरणाओं का स्थान भी वे उसी हाइपोथैलेमस के अन्य अंशों में मानते हैं।

सुख-एक भावावेग :-- यद्यपि मानवों में क्षुधा, तृष्णा तथा कामज सुखों का केन्द्र हाइपोथैलेमस के एक विशिष्ट भाग में अवस्थित है, तथापि मनुष्य की शिक्षा और संस्कृति के अनुपात में ये प्रेरणाएँ भावावेग के कारण तीव्र या शिथिल हुआ करती हैं। इसीलिए कुछ मनोवैज्ञानिक ऐसा भी मानते है कि मानवों में सुख का उत्स भावावेग ही है।

सुख का उत्स-भावावेग :-- कोई कोई तो सुख को भावावेग का ही एक प्रकार मानते हैं।* परन्तु कोई सुख-प्रेरणा को भावावेग का कारण समझते हैं। उनके सिद्धान्त के अनुसार प्राणी का स्वशासित-स्नायु-तंत्र (Autonomous Nervous System), हाइपोथैलेमस द्वारा परिचालित होने के कारण सुख-दुःखादि भावावेग में विशेष रूप से कार्यक्षम होता है। किसी किसी का कहना है कि दुःख का शमन (relief) ही सुख का वास्तविक कारण है। उनके मत के अनुसार मनुष्य को भोग करते समय स्नायविक और मानसिक तनाव के कारण जितना सुख नहीं हो पाता, उससे कहीं अधिक सुख भोग के पश्चात् होता है। उसका कारण है तृष्णा के तनाव से होनेवाले दुःख का शमन

---

* Wegner M. A., Jones F. N. & M. H., Physiological Psychology, pp. 336, 347-48

धूप के ताप के पश्चात् छाया, या तीव्र जल-पिपासा के पश्चात् जल का पान, अथवा बहुत क्षुधा लगने पर भोजन जितना सुखदायक होता है, उतना साधारण अवस्था में नहीं; क्योंकि उस सुखानुभूति का कारण है दुःख के तनाव का शमन।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के इन विविध सिद्धान्तों से हम समझ सकते हैं कि उनकी सुख-विषयक धारणाएँ स्नायु और मन में ही सीमित हैं।

जन-साधारण का सांसारिक सुख-विषयक अनुभव :—

विषय-तृष्णा दुर्दमनीय :— सुख-विषयक धारणाएँ जो भी हों, वे सही हों या भ्रान्तिपूर्ण, उनसे जन-साधारण के सुख-विषयक अनुभव में कोई लाभ या व्यवधान नहीं होता। अनादि काल से मानव विषय-सुखों के पीछे दौड़ रहा है, किन्तु उसका अनुभव यही है कि सुख की तृष्णा कभी भी शान्त नहीं होती। अनेक बार विषय-भोग करने पर भी मनुष्य की सुख-स्पृहा कभी पूर्णतया तृप्त नहीं हो पाती, बल्कि भोग के अनुपात में बढ़ती ही जाती है।*

महापुरुषों के अनुभवात्मक वचन :— भारतीय मनीषी इस विषय-मृगतृष्णा को ही दुःख का बीज मानते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'विषय-सुख प्रारम्भ में तो अमृततुल्य लगता है, पर उसका अन्तिम परिणाम विषतुल्य

---

* न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
महाभारत, १/७५/५०

हुआ करता है।'† वे और भी कहते हैं--'जो सुख इन्द्रिय और विषय के संयोग से होते हैं, वे सभी आदि-अन्त-वाले तथा दुःख के कारण हैं। इसलिए बुद्धिमान लोग उनके प्रति रुचि नहीं रखते।'‡ विष्णु-पुराण में भी कहा गया है कि एक ही वस्तु मनुष्य को कभी सुख देती है, तो कभी दुःख; वही कभी क्रोध का कारण होती है, तो कभी वैराग्य और आत्म-प्रसाद का। इसलिए संसार में एकदम सुखद या दुःखद जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। सुख और दुःख तो मन के परिणाम हैं।§ भक्तप्रवर तुलसीदास जी ने भी कहा है कि आशा नाम की एक अद्‌भुत देवी है, जिसकी सेवा करने से दुःख और जिसका त्याग करने से सुख हुआ करता है।*

पाश्चात्य सन्तों और मनीषियों का अनुभव :– पाश्चात्य सन्त ग्रेगरी के अनुसार आध्यात्मिक और सांसारिक सुख में अन्तर यह है कि सांसारिक सुख भले ही प्रारम्भ में स्पृहणीय लगता है पर भोग के पश्चात् वही खिन्नता और ग्लानि का कारण हो जाता है। दूसरी ओर, आध्यात्मिक सुख आरम्भ में भले ही अनाकर्षक और अरुचिकर मालूम होता है, पर एक बार यदि उसका अनुभव हो जाय, तो

---

† श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, १८/३७

‡ वहीं, ५/२२

§ वहीं, २/६/४५-४७

* दोहावली, प्रका० गीता प्रेस, सं० २०१९, पृष्ठ २५८

मनुष्य हृदय से केवल उसी को चाहता है ।* पाश्चात्य मनीषी एवं प्रसिद्ध विद्वान् अरिस्टॉटल कहते हैं—जैसे कोई अधिक लाभ की आशा करनेवाला व्यापारी अधिक नुकसान होने पर बेचैन, म्लान और विषण्ण हो जाता है, तीव्र विषय-सुख अनुभव करने के पश्चात् प्राणी को वैसी ही ग्लानि होती है ।†

ये सब महापुरुष जनसाधारण के ही प्रतिनिधि थे, इसलिए उनका सुख-विषयक अनुभव सारे मानवों का अनुभव कहा जा सकता है । अन्तर इतना ही है कि साधारण जनता विवेकशक्ति के अभाव में उस अनुभव की सूक्ष्मता को नहीं पकड़ पाती । वैसे तो विवेकी लोगों के लिए सारा संसार ही दुःखमय है ।‡ अतएव विवेकी जन प्रेय (विषय-सुख) को त्यागकर श्रेय (आत्मसुख) का वरण करते हैं और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं ।

सुख का उत्स हमारे ही भीतर, बाहर नहीं :— विषय-सुख के सम्बन्ध में जनसाधारण का और भी एक अनुभव है । सही निरीक्षण करने से प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है कि यद्यपि सुख विषयों से प्राप्त हुआ-सा लगता है, तथापि सुख का अनन्त उत्स अपने ही भीतर है । तभी तो हर व्यक्ति स्थूल विषयों के विद्यमान न रहने पर भी सुषुप्ति और

---

* St- Francis De Sales, Tr. V. Kerns, The Love of God, P. 29

† वहीं, पृ: २९

‡ पातंजल-योगसूत्र, २।१५

स्वप्न में तथा ध्यान और चिन्तन से जाग्रत् अवस्था में स्वयं के भीतर सुख का अनुभव करता है। ब्रह्मानन्द, भजनानन्द, स्वप्नानन्द तथा सुषुप्ति में प्राप्त आनन्द से यह बात स्पष्ट हो जाती है। सूक्ष्म-बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति विषयों के सान्निध्य में भी सुख को विषयों से आता हुआ नहीं अनुभव करता, बल्कि स्वयं के भीतर से उसे आता हुआ अनुभव करता है। कोई विषय यदि सचमुच ही सुख का उत्स होता, तो उससे सर्वदा सुख का ही अनुभव होता। किन्तु अनुभव से हम जानते हैं कि एक ही विषय अनुकूल होने से सुख और प्रतिकूल होने से दुःख का कारण बन जाता है।† उदाहरणार्थ, किसी दानी के पास हजारों रुपयों के नोट के बंडलों को देखने पर किसी व्यक्ति को उतना आनन्द नहीं होता, जितना कि दानी से कुछ नोट के बंडलों के पाने पर होता है। फिर, उन पाये हुए नोटों की चोरी होने से उस व्यक्ति को असह्य दुःख भी होता है। नोट यदि सुख का उत्स होता, तब तो उसे दानी या चोर के पास देखने पर भी व्यक्ति को उतना ही सुख होता, जितना कि नोट के स्वयं के पास रहने से हुआ था! यही नहीं, नोट को देखते ही लोग आनन्द के मारे नाचने लगते। कम से कम मित्र के लाटरी से मिले हजारों रुपयों के नोट देख वे हर्षातिरेक से झूम उठते! पर ऐसा होते नहीं दिखायी देता। अतः जनसाधारण का भी यही अनुभव है कि सुख का उत्स बाहर नहीं, बल्कि हमारे अपने

† विवेक चूड़ामणि, १०५

भीतर ही सर्वदा विद्यमान है।

सुख का परिमाण :– इस सिद्धान्त को मान लेने पर अब एक प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रत्येक व्यक्ति में यह सुख किस परिमाण में विद्यमान है? इसका उत्तर है–– अनन्त परिमाण में। तथापि एक व्यक्ति एक समय में जितने भोग्य-विषय पाता है, वह उसी परिमाण में अपने भीतर सुख का अनुभव करता है। निर्धन या धनी सबमें सुख का अनन्त उत्स विद्यमान है। निर्धन इसे कम मात्रा में अनुभव करता है, क्योंकि वह अपने प्रारब्ध कर्म के अनुसार कम विषय-भोग प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ, एक निर्धन चपरासी यदि अपने भाग्य से लाटरी में एक लाख रुपया पा ले, तो उसमें उसी परिमाण में सुख की अनुभूति भी होगी।

विषय-सुख बनाम आत्मसुख :– अब प्रश्न यह है कि यदि सुख का यह अनन्त उत्स प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है, तो वह अपने दैनन्दिन जीवन में इच्छानुसार सहजता एवं सरलता से, विषयों की सहायता लिये बिना, उसका अनुभव क्यों नहीं कर पाता? अपने भीतर विशाल जलाशय के रहते हुए भी वह विषयरूप मृगजल के पीछे क्यों दौड़ता है?

इसका उत्तर है––अपने अज्ञान के कारण। जब तक अज्ञान का यह आवरण प्राणिमात्र में विद्यमान है, तब तक वह अपने स्वरूप का सुख सीधे सीधे अनुभव नहीं कर पाता। साधना के द्वारा अज्ञान का बाध होने पर वह

सुखस्वरूप ही हो जाता है। पर तबतक उसके सुख-भोग पर राशनिंग ही रहेगा।

उपर्युक्त विवेचन सुनकर कोई कह सकता है कि राशनिंग ही सही, हम तो विषय-सुख ही लेंगे, क्योंकि आत्मज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति करना कोई हँसी-खेल तो है नहीं! तब हम निर्जला एकादशी क्यों करें? संसार में शिक्षित-अशिक्षित, सभ्य-असभ्य, मूर्ख-बुद्धिमान सभी तो विषय-सुख ही चाहते हैं?

संसार का स्वरूप :– हाँ, यह ठीक है कि आत्मानुभूति सरलता से स्वल्प काल में प्राप्त होनेवाली वस्तु नहीं है, तो भी बुद्धिमान व्यक्ति के लिए तो स्वस्वरूपानन्द की उपलब्धि अथवा भगवान्-लाभ ही जीवन का एकमात्र आदर्श हो सकता है। उसके लिए अपने अपने स्वधर्म के अनुसार प्रयत्न करना चाहिए, ऐसा संसार के सभी महापुरुष कहते है। संसार तो हर एक को अपना छल-कपट पूर्ण भयंकर स्वरूप दिखाता ही रहता है तथा प्रत्येक व्यक्ति को जीवन के कठोर सत्यों का मुकाबला करना ही पड़ता है। संसार में केवल सुख ही तो नहीं है, यहाँ विभिन्न प्रकार के दुःख भी अपने प्रारब्ध के अनुसार भोगने पड़ते हैं। फिर जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि आदि भी लगी ही हुई है। संसार की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य कहते हैं––"यह संसार नामक वस्तु है क्या? सुख-दुःख का भोग ही संसार है।"† एक साधारण कवि भी अपने जीवन के अनुभव से

† श्रीमद्भगवद्गीता, शांकर भाष्य, १३।२०

कहता है--"कभी सुख है, कभी दुःख है, इसी का नाम दुनिया है।" मृच्छकटिककार शूद्रक ने संसार की तुलना रहँट से देते हुए कहा है--'यह संसार किसी को रिक्त (कंगाल) कर देता है, तो किसी को भर (धनी बना) देता है; किसी को ऊपर उठाता है, तो किसी को नीचे ले जाता है और किसी को न तो ऊपर और न नीचे ऐसी त्रिशंकु अवस्था में रखता है।'† इसका तात्पर्य यही है कि मनुष्य चाहे या न चाहे, जीवन में परस्पर-विरोधी घटनाएँ उसके प्रारब्ध-कर्म के अनुसार घटा करती हैं।

मनीषियों का मार्गदर्शन :– इसलिए संसार में सुख की अनुभूति चाहे स्नायुओं के माध्यम से हो या मन के, वह सच्ची सुखानुभूति नहीं है, वह मृगजल के समान सुख का आभास मात्र है। यही प्राच्य और पाश्चात्य मनीषियों का अनुभव है। अतएव वे कहते हैं कि बुद्धिमान पुरुषों को निष्ठापूर्वक आत्मज्ञान पाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि एकमात्र आत्मज्ञान से ही शाश्वत सुख, शाश्वत शान्ति, शाश्वत मुक्ति, अमरत्व तथा चिरस्थायी एवं निश्चित दुःख-निवृत्ति सम्भव है। महर्षि वसिष्ठ श्रीरामचन्द्र से कहते हैं--"जो ज्ञानवान् है, वही वास्तविक सुखी है; जो ज्ञानवान् है, वही यथार्थतः जीवित है; जो ज्ञानवान् है, वही सच्चा बलवान् है; अतएव हे राम! तुम ज्ञानमय हो जाओ।" ‡ (समाप्त)

---

† मृच्छकटिक नाटकम्, १०।६०

‡ योगवासिष्ठ, ५।९२।४९

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

(गतांक से आगे)

भाषण-दौरे की कतिपय अनुभूतियाँ

लेक्चर-ब्यूरो से मुक्ति पाने के बाद स्वामीजी बड़ी शान्ति का अनुभव कर रहे थे। अब भाषणों के लिए भाग-दौड़ नहीं थी और न किसी प्रकार का बन्धन ही था। वे अपने आपको खुले आकाश में मुक्त विहंग की नाईं महसूस कर रहे थे। अब वे कहीं भी आने-जाने को स्वतंत्र थे। भारत भी लौट सकते थे। पर अमरीकी जनता उन्हें इतनी सहजता से छोड़नेवाली नहीं थी। उनके मित्र उनके द्वारा प्रचारित चिरन्तन शाश्वत सिद्धान्तों के तथा उनके स्वयं के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान हो चुके थे। उन्होंने जीवन में एक नयी दिशा प्राप्त की थी, नवीन आलोक का दर्शन किया था। अतः इतनी शीघ्रता से वे स्वामीजी को त्यागनेवाले न थे। स्वामीजी ऐसे ही उदार और सरलमना मित्रों के साहचर्य का आनन्द ले रहे थे। उन्होंने हेल बहनों को १५ मार्च १८९४ के पत्र में लिखा था--"मैं बूढ़े पामर के साथ बड़े आनन्द में हूं। वे बड़े विनोदी हैं।...मेरे विषय में यहाँ के एक समाचार-पत्र ने सबसे अजीब बात लिखी है--'तूफानी हिन्दू यहाँ आ धमका है और वह श्री पामर का अतिथि है। श्री पामर हिन्दू हो गये हैं और भारत जा रहे हैं; उनका आग्रह बस यही है कि दो सुधार हो जावे चाहिए—प्रथम यह कि जगन्नाथजी के रथ में उनके लॉग-हाउस

फार्म में पले फ्रेंच नस्ल के घोड़े बाँधे जाँय, और द्वितीय यह कि हिन्दुओं के पवित्र गोवंश में जरसी नस्ल की गायों को सम्मिलित कर लिया जाय ।' श्री पामर उक्त नस्ल के घोड़ों और गायों के दिली शौकीन हैं और उनके लॉग, हाउस फार्म में दोनों का बाहुल्य है ।"

पर श्री पामर के यहाँ स्वामीजी बहुत अधिक दिन न रुक पाये, क्योंकि श्रीमती बागली उन्हें अपने यहाँ आमंत्रित करने को व्यग्र हो उठी थीं । स्वामीजी ने १७ मार्च को लिखा, "आज मैं श्रीमती बागली के यहाँ लौट आया । श्री पामर के यहाँ अधिक दिन रुकने की वजह से वे नाराज थीं । निश्चय ही पामर के घर में दिन बड़ी 'तफरीह' से कटे । वे बहुत ही मौजी और हँसमुख आदमी हैं--जरूरत से ज्यादा, और फिर उनकी 'गरम स्कॉच' ! लेकिन हैं वे एकदम अकलंक और बच्चों जैसे सरल ।"

शिकागो से लेकर अब तक स्वामीजी को कितने ही ऐसे निश्छल-निर्मल एवं स्नेही मित्र मिले थे, जिन्होंने अच्छे और बुरे समय में सदा उनका साथ दिया था । जब कट्टर ईसाई समाज उनके विरुद्ध विष वमन कर रहा था, तब उनके ये ही सहृदय मित्र हितैषी के रूप में सम्मुख आये और सब प्रकार से उनकी सहायता की । यद्यपि स्वामीजी के डिट्रायट में दिये गये ११ मार्च के भाषण ने विपक्षियों का मुँह बन्द कर दिया था तथा गिरजाघरों से उनके विरुद्ध प्रचार भी अवरुद्ध-सा हो गया था, तथापि

भीतर ही भीतर मिशनरियों का कार्य जोरों पर था। धर्मान्धता किस सीमा तक मनुष्य को पहुँचा सकती है इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि मिशनरियों ने स्वामीजी को जान से मार डालने की भी चेष्टा की। ऐसी ही एक घटना का उल्लेख स्वामीजी ने अपने गुरुभाई स्वामी विज्ञानानन्दजी से किया था। डिट्रायट में स्वामीजी को एक जगह डिनर (रात्रि-भोज) के लिए आमन्त्रित किया गया था। वहाँ जब वे काफी का प्याला उठाकर पीने ही वाले थे, तो देखा, बाजू में श्रीरामकृष्ण खड़े हैं और उनसे कह रहे हैं--"इसे पीना नहीं, इसमें विष है।" गुरुकृपा से स्वामीजी अनेक बार ऐसी विपत्तियों से बचते रहे और बड़ी निर्भीकता के साथ विरोधियों का सामना करते रहे। अमेरिका के ख्यातनामा वक्ता तथा अज्ञेयवादी राबर्ट इंगरसॉल ने एक बार स्वामीजी को सावधान करते हुए कहा था कि वे अधिक साहस का परिचय न दें, अति स्पष्टवादी न बनें और अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते समय प्रचलित रीति-रिवाजों के प्रति आलोचना करने में सतर्कता बरतें। इसका कारण पूछने पर इंगरसॉल ने कहा था, "आप यदि पचास वर्ष पूर्व इस देश में प्रचार-कार्य हेतु आये होते, तो आपको फाँसी पर लटका दिया जाता अथवा जीवित जला दिया जाता। यदि और कुछ बाद में आते, तो आपको पत्थरों से मार-मारकर गाँवों से भगा दिया जाता।" ऐसे कटु अनुभव स्वामीजी को न हुए हों ऐसी

बात नहीं। पर स्वामीजी की विचारधारा और इंगरसॉल की चिन्तनधारा में एक विशेष अन्तर था। इंगरसॉल धर्मविरोधी थे, जबकि स्वामीजी आस्तिक एवं ईश्वर-परायण थे तथा ईसामसीह के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी। इंगरसॉल को अतीन्द्रिय सत्य में विश्वास न था, जबकि स्वामीजी की आस्था ही उस पर आधारित थी। इंगरसॉल धर्मध्वंसक थे, जबकि स्वामीजी को संकीर्णता और धर्मान्धता से विरोध था। इंगरसॉल के लिए मात्र यह संसार ही सत्य और भोग्य वस्तु था, जबकि स्वामीजी इस संसार को असार समझते और इसके मूल में विद्यमान सार शाश्वत तत्त्व के समर्थक थे। दोनों की विचारधाराओं का अन्तर एक घटना से स्पष्ट हो जाता है। इंगरसॉल ने एक दिन बातचीत के दौरान कहा, "मैं इस जगत् से यथासम्भव सुख निचोड़ लेना चाहता हूँ। मैं सन्तरे की भाँति इसका रस निचोड़ इसे फेंक देना चाहता हूँ, क्योंकि इस जगत् से भिन्न किसी अन्य संसार की सत्यता के सम्बन्ध में मैं विश्वास नहीं करता।" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "आप इस संसाररूपी सन्तरे को जिस ढंग से निचोड़ना चाहते हैं, मैं उसकी अपेक्षा एक उत्तम उपाय जानता हूँ, जिससे रस भी अधिक प्राप्त करता हूँ।

—"कैसे ?"

—"मैं जानता हूँ कि मेरा नाश नहीं है और इसलिए मुझे रस निकालने की कोई जल्दबाजी नहीं। मै

जानता हूँ कि मुझे कोई भय नहीं और इसलिए मैं मौज से रस निचोड़ता हूँ। मेरा कोई कर्तव्य नहीं—मुझे स्त्री-पुरुष, सन्तान-धन आदि का बन्धन भी नहीं। मेरे लिए सभी भगवान् हैं। एक बार जरा सोच देखिए, मनुष्य को भगवान् समझकर प्यार करने से कितना आनन्द मिलता है? अपने इस सन्तरे को इसी प्रकार निचोड़िए और निश्चिन्त होकर सारा रस निकालिए।"

स्वामीजी को इस भाषण-दौरे में विभिन्न प्रकार के खट्टे मीठे अनुभव हुए थे। कई बार उन्हें विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था। पर वे उन सबको सहजता और आनन्द से झेलते गये। एक बार की घटना है। वे पश्चिमी अंचल के एक शहर में व्याख्यान के लिए पहुँचे। व्याख्यान में हिन्दू दर्शन की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा—सत्यद्रष्टा व्यक्ति को बाह्य जगत् की कोई भी वस्तु विचलित नहीं कर सकती। विषम परिस्थितियों में भी उसका मन शान्त और भयरहित रहता है।" श्रोताओं में विश्वविद्यालय के कुछ छात्र भी थे, जो 'काउ बॉयेज' के नाम से जाने जाते थे तथा जो अपनी उद्दण्डता और उद्धतता के लिए विख्यात थे। स्वामीजी का यह कथन सुनकर उन्होंने निश्चय किया कि इसका प्रयोग उन्हीं के ऊपर किया जाय। उन्होंने स्वामीजी को अपनें गाँव में भाषण देने के लिए आमंत्रित किया। गांव के चौराहे पर एक लकड़ी के टब को उलटाकर उससे मंच का काम लिया गया और स्वामीजी को उस पर खड़े हो भाषण देने

के लिए कहा गया। स्वामीजी ने भाषण प्रारम्भ किया और शीघ्र ही वे अपने विषय की गहराई मे डूब गये। अचानक उन्होंनें बन्दूक से गोलियों के छूटे जाने की आवाज सुनी और देखा कि गोलियाँ सनसनाती हुई उनके कान के पास से गुजर गयीं। पर वे बिना विचलित हुए अन्त तक अपना भाषण देते रहे। भाषण समाप्त होते ही इन लड़कों ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया और बड़े उत्साह से उनसे हाथ मिलाते हुए वे अपनी अक्खड़ भाषा में कहने लगे, "हाँ, यह सही और सच्चा आदमी है।"

और एक जगह की घटना है, जिसका उल्लेख बाद में स्वामीजी बड़े मजे से किया करते थे। उन दिनों वे मात्र एक बैग (थैला) लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान को भाषण के लिए जाया करते थे। उनके भाषण के प्रति लोगों का आकर्षण और चाव तो बहुत था, पर उनकी सुख-सुविधा के बारे में विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। वे स्वयं भी इस ओर से पूर्णतया उदासीन हो अपने प्रचार-कार्य में लगे हुए थे। मध्य-पश्चिमांचल के एक छोटे से शहर की घटना होगी। स्वामीजी वक्तृता के लिए उपस्थित हुए। लगातार भ्रमण और भाषण के कारण उनका शरीर और मन दोनों अत्यन्त थके हुए थे। अतः थोड़ा सा आराम करना उनके लिए अत्यन्त आवश्यक था। स्वागत-समिति का सचिव उन्हें एक अन्धकारपूर्ण छोटे से कमरे में ले गया और वहाँ पड़ी हुई एक आरामकुर्सी पर बैठने के लिए कहकर बाहर चला आया। स्वामीजी ज्योंही उस कुर्सी

पर बैठे कि उसमे लगा कपड़ा जो कि शायद बरसों पुराना रहा होगा, चर्र करता हुआ फट गया। इसके पूर्व कि स्वामीजी अपने को सँभाल पाते, वे कुर्सी में बुरी तरह धंस गये। बाहर निकलने की जितनी चेष्टा करते, उतना ही फँसते जाते। यहाँ तक कि पहनी हुई पोशाक के फटने का अंदेशा होने लगा। शरीर भी छिला जा रहा था। अन्त में वे थककर चूर चूर हो निश्चेष्ट पड़े रहे। थोड़ी देर बाद आयोजक महोदय आये और बोले, "स्वामीजी, चलिए, लोग आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।" स्वामीजी ने तनिक उच्च कण्ठ से कहा, "भाई, अभी मैं जिस अवस्था में हूँ, उससे यदि मेरा उद्धार न हुआ, तो आपके श्रोताओं को इसी प्रकार प्रतीक्षारत ही रहना पड़ेगा।" यह सुन आयोजक महोदय व्यग्र हो अन्दर आये और उन्होंने स्वामी-जी की अवस्था देख उन्हें खींचकर बाहर निकाला। दोनों के अट्टहास से कमरा गूँज उठा। स्वामीजी बाद में इस घटना का वर्णन अपने गुरुभाइयों और शिष्यों के बीच इस ढंग से करते थे कि हँसते हँसते सबका पेट फूलने लगता।

उनके हृदय की विशालता और मानवता के प्रति उनके असीम प्रेम का परिचय एक और घटना से प्राप्त होता है। अमेरिका के दक्षिण प्रान्त के एक शहर में वे ट्रेन से पहुँचे। लोग उनके स्वागत के लिए स्टेशन पर एकत्रित थे। एक नीग्रो कुली ने उन्हें अपना स्वजातीय समझा। गोरे लोगों के द्वारा उन्हें सम्मानित होते देख वह हर्षोत्फुल्ल हो उनके पास आकर बोला, "मैंने सुना है कि

आप हमारे स्वजातीय बन्धु हैं। आपकी महानता से हमारा सारा नीग्रो समाज गौरवान्वित हुआ है। मैं आपसे हाथ मिलाने का सौभाग्य प्राप्त करना चाहता हूँ।" यह सुनते ही स्वामीजी ने बड़े तपाक से उससे हाथ मिलाया और प्रसन्न हो कहा, "धन्यवाद, धन्यवाद, मेरे भाई!" बाद में स्वामीजी ने और भी ऐसी कई घटनाओं का उल्लेख किया था, जहाँ नीग्रो लोगों ने उन्हें अपना स्वजातीय समझ तदनुरूप व्यवहार किया था। पर स्वामीजी यह सोच तनिक भी संकुचित नहीं हुए थे कि लोग उन्हें नीग्रो समझते हैं, न ही कभी उन्होंने उनके सामने यह प्रकट किया कि वे नीग्रो नहीं, भारतीय हैं। एक बार ऐसा भी हुआ कि दक्षिणी प्रदेश में एक होटलवाले नें उन्हें नीग्रो समझ होटल में घुसने नहीं दिया। तब स्वामीजी ने एक दूसरी जगह आश्रय लिया और उन्होंने उस शहर में एक सुन्दर वक्तृता दी। जब होटलवाले को समाचार-पत्रों द्वारा ज्ञात हुआ कि उसके यहाँ आनेवाला व्यक्ति विश्वप्रसिद्ध स्वामी विवेकानन्द थे, तब अपने व्यवहार पर लज्जित हो उसने स्वामीजी के पास आकर क्षमा माँगी। कभी कभी तो अमेरिका के उत्तरी हिस्से में भी उन्हें नाई की दूकान से अपमानित होकर निकलना पड़ा था। बहुत समय बाद यह सब सुनकर उनके किसी पश्चिमी शिष्य ने जब उनसे पूछा था कि उन्होंने इन सब स्थानों पर अपना परिचय क्यों नहीं दिया तो वे बोले थे, "क्या दूसरों को छोटा करके मैं बड़ा होता?

में पृथ्वी पर इसलिए तो नहीं आया।" उन्होंने कभी अपनी जाति के बारे में हीन भाव का अनुभव नहीं किया, बल्कि वे तो बड़े गर्व से कहते कि वे भारतीय हैं। यदि कोई पाश्चात्यवासी अपनी गोरी चमड़ी के बल पर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का साहस करता, तो वह उनके निर्मम प्रहारों से नहीं बच पाता था। भगिनी निवेदिता ने लिखा है, "वे उन समस्त भाग्यशाली जातियों को अवज्ञा की दृष्टि से देखते थे, जिन्होंनें स्वयं उच्च अधिकारों को प्राप्त कर मिथ्या जात्यभिमान का पोषण किया था। वे कहते थे, 'यदि मुझे अपने श्वेतचर्मधारी आर्य पूर्वजों के प्रति गर्व है, तो अपने मंगोलियन पूर्वजों के प्रति और भी अधिक है तथा श्यामवर्णीय नीग्रो के पूर्वजों के प्रति तो सर्वाधिक है।'

"उन्हें स्वयं अपनें मंगोलियन जबड़ों के प्रति बड़ा गर्व था, क्योंकि वे ऐसे जबड़ों को काम के प्रति बुलडॉग की तरह लगन का द्योतक मानते थे। उन्हें विश्वास था कि 'आर्य' नाम से जानी जानेवाली प्रत्येक जाति में यह मंगोलीय गुण विद्यमान है। तभी तो एक दिन वे आश्चर्य के स्वर में कह उठे थे, 'देखते नहीं, तातार प्रत्येक जाति के लिए मदिरास्वरूप है? वह हर जाति के रक्त को शक्ति और उत्साह प्रदान करता है'।"

उनके वक्तृत्व का जादू लोगों पर ऐसा चढ़ा हुआ था कि लोग उन्हें सुनने को अत्यधिक लालायित रहते। उनके पास इतने आमंत्रण आते कि कभी कभी तो उन्हें

हफ्ते में बारह-चौदह या उससे भी अधिक व्याख्यान देने पड़ जाते। फिर भी वे पूरा नहीं कर पाते और उन्हें वहुत से निमन्त्रणों को अस्वीकार करना पड़ता। अथक परिश्रम से उनका शरीर और मन दोनों अवसन्न हो चुके थे। कभी कभी तो मानसिक तनाव इतना अधिक हो जाता कि उन्हें लगता उनका बौद्धिक ज्ञान पूरी तरह लुप्त हो गया है। यहाँ तक कि भाषण का विषय भी कभी कभी वे ठीक नहीं कर पाते थे। ऐसे समय में वे अपने आप से पूछ बैठते--"क्या करूँ? कल क्या बोलूँगा?" उन्हें कोई कूल-किनारा दिखायी न देता। और तब, अवसाद की चरम सीमा में वे अप्रत्याशित रूप से ईश्वरीय अनुकम्पा का अनुभव करते। रात में सोते समय वे सुनते कि कोई जोर जोर से दूसरे दिन की वक्तृता के विषय पर व्याख्यान दिये जा रहा है। उन्हें सबसे आश्चर्य तो इस बात का होता कि वे सारे विचार मौलिक होते, जिनके बारे में न तो उन्होंने पहले कभी सुना और न सोचा ही। कभी कभी उन्हें लगता कि यह देववाणी कहीं दूर ध्वनित हो रही है और क्रमशः निकट आ रही है। या फिर कभी वे देखते कि वे बिस्तरे पर सोये हुए हैं और बाजू में कोई खड़ा हुआ भाषण दे रहा है, अथवा यह कि दो व्यक्ति खड़े आगामी दिन के विषय पर वाद-विवाद कर रहे हैं। इससे उन्हें दूसरे दिन की भाषण-सामग्री प्राप्त हो जाती। कई बार तो उसी घर में रहने-वाले दूसरे लोग भी यह बातचीत सुन पाते और दूसरे दिन उनसे पूछ बैठते, "स्वामीजी, कल आप किसके साथ इतने

जोर जोर से बातें कर रहे थे ?" स्वामीजी इधर-उधर की बातें बना प्रश्न को टाल जाते। पर इससे प्रश्नकर्ता और भी रहस्य में पड़ जाता। विशेष आग्रह करने पर वे समझाते हुए कहते, "यह और कुछ नहीं, मन का ही कार्य है। मन ही अपने आपको दो भागों में बाँटकर उपदेश देता है, बातचीत करता है तथा विचार करता है। यह आत्मा की अनन्त शक्ति का परिचायक है। यही शक्ति निद्रावस्था में इस प्रकार अपने को प्रकट करती है। इसके अलावे इसमें और कोई अलौकिकता नहीं।" घनिष्ठ शिष्यों से वे यह भी कहते, "इसे ही दैवी ज्ञान (Inspiration) कहा जाता है।" पर वस्तुत: न तो वे इसे कोई महत्त्व देते थे और न इसकी अलौकिकता ही स्वीकार करते थे।

इसी अवधि में स्वामीजी में अप्रतिम योगशक्ति का भी विकास हुआ था। पर वे इस शक्ति का प्रयोग बहुत बिरला ही करते। जब भी उन्होंने इसका प्रयोग किया, तो उसके पीछे कोई न कोई विशिष्ट कारण अवश्य विद्यमान रहा। उनमें ऐसी शक्ति प्रकट हुई थी कि वे स्पर्श कर इच्छा मात्र से दूसरे की जीवन-दिशा बदल दे सकते थे। घर बैठे वे दूर का संवाद ग्रहण कर लेते तथा दूसरों के अन्तर्मन की बातें जान जाते। अनेक स्थानों पर देखा जाता कि वे प्रश्नकर्ता के मन्तव्य को उसके प्रश्न करने के पूर्व ही समझ लेते और तदनुरूप उत्तर दे उसकी शंका का समाधान कर देते। शिकागो का एक धनाढ्य व्यक्ति, जो योग की शक्ति के प्रति अविश्वासी था, एक दिन व्यंग्य

के स्वर में स्वामीजी से बोला, "महोदय, आप जो कहते हैं, यदि वह सत्य है, तो आप मेरे मानसिक गठन तथा अतीत जीवन के बारे में कुछ सुनाइए।" स्वामीजी क्षण-मात्र को हिचकिचाये और फिर अपनी दृष्टि उस व्यक्ति की आँखों में इस प्रकार गड़ा दी, मानो अदम्य शक्ति द्वारा वे उसके शरीर और मन का भेदन कर उसके जीवात्मा को आवरणहीन कर दे रहे हों। वह व्यक्ति भयाकुल और संत्रस्त हो चिल्ला उठा, "आप यह मेरा क्या कर रहे हैं? मुझे तो ऐसा लग रहा है मानो कोई मेरी आत्मा को मथे दे रहा है और मेरे जीवन के सारे रहस्यों की परतें खोल ऊपर फेंके दे रहा है!" ऐसी महान् शक्ति के अधिकारी होकर भी स्वामीजी ने कभी उसे आध्यात्मिकता का परिचायक नहीं माना और न उसे महत्त्वपूर्ण ही समझा। आत्मा की अनन्त महिमा का गान और उसका उद्घाटन ही उनके जीवन का मूलमंत्र था और अमेरिका के जनजीवन को इसी दिशा में अनुप्राणित करने के लिए वे प्रयत्नशील थे।

(क्रमशः)

●

साधारण मनुष्य अपनी विचार-शक्ति का नब्बे प्रतिशत अंश व्यर्थ नष्ट कर देता है और इसलिए वह निरन्तर भारी भूलें करता रहता है। प्रशिक्षित मनुष्य अथवा मन कभी कोई भूल नहीं करता।

—स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में श्री सारदा देवी के कुछ संस्मरण

संकलनकर्ता – *स्वामी चेतनानन्द*

(वार्तालाप के प्रसंग में श्री माँ सारदा बहुधा श्रीरामकृष्ण देव के संस्मरण सुनाया करती थीं। ऐसे ही कतिपय प्रसंगों का एक संकलन अँगरेजी मासिक 'वेदान्त केसरी' के अक्तूबर १९७४ अंक में प्रकाशित हुआ था, जहाँ से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत और अनूदित हुआ है। --सं०)

उत्स

ठाकुर कहा करते थे कि उनका शरीर गया से आया है। जब उनकी माता स्वर्गवासिनी हुईं, तो उन्होंने मुझसे गया में पिण्डदान करने के लिए कहा। इस पर मैं बोली, "जब तुम--उनके बेटे--यहाँ हो, तो मुझे यह पिण्डदान आदि करने का अधिकार भला कैसे है?" तब ठाकुर बोले, "नहीं, नहीं, तुम्हें अवश्य ऐसा अधिकार है। मैं किसी भी दशा में गया नहीं जा सकता। यदि मैं वहाँ गया, तो क्या तुम सोचती हो कि मेरे लिए वहाँ से लौटना सम्भव होगा?"* इसलिए मैंने नहीं चाहा कि वे गया जायँ। बाद में मैंने ही गया में श्राद्धादि कर्म किये।

---

* परम्परा कहती है कि श्रीरामकृष्ण के जन्म से पूर्व उनके पिता ने गयाधाम में भगवान् गदाधर के स्वप्न में दर्शन किये थे, जिन्होने उनसे कहा था कि 'मैं तुम्हारे पुत्र-रूप से जन्म लूँगा।' अतः यदि वे गया जाते, तो सम्भव था कि उनका गया के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध उन्हें विह्वल कर देता। स्मरणीय है कि गया ने बुद्ध और चैतन्य के भी जीवन को मोड़ प्रदान किया था।

श्रीरामकृष्ण—पूर्णता के अनुरागी

जब ठाकुर दक्षिणेश्वर से अजीर्ण के रोगी होकर कामारपुकुर लौटे, तब मैं नितान्त बच्ची ही थी। वे भोर में ही उठ जाते और मुझसे कहते, "मेरे लिए आज भोजन में अमुक अमुक चीजें बनाना।" और हम उनके लिए वही सब चीजें बनातीं। एक दिन एक मसाला कुछ कम पड़ गया। लक्ष्मी† की माँ ने कहा, "तो क्या हुआ, उसके बिना ही बना लो न। जब मसाला है नहीं, तो भला क्या कर सकते हैं?" ठाकुर ने हम लोगों की बात सुन ली; वे बोले, "यह क्या? यदि वह मसाला चुक गया है, तो किसी को भेजकर एक पैसे का मँगा क्यों नहीं लेतीं? आवश्यक चीजों को छोड़ना नहीं चाहिए। क्या तुम नहीं जानतीं कि तुम्हारी दाल-सब्जी के इस विशेष स्वाद के लिए ही मैं दक्षिणेश्वर की स्वादिष्ट चीजें और गाढ़ा दूध छोड़कर यहाँ आया हूँ? और तुम हो कि उस मसाले के बिना ही भोजन बनाना चाहती हो!" लक्ष्मी की माँ यह सुनकर लज्जित हुईं और उन्होंने तुरन्त मसाला मँगवा भेजा।

श्रीरामकृष्ण के लिए रसोई बनाने का मजा

एक दिन ठाकुर और हृदय‡ भोजन कर रहे थे। लक्ष्मी की माँ और मैं दोनों मिलकर कामारपुकुर में रसोई बनाया करती थीं। वे बहुत बढ़िया पकातीं। ठाकुर ने

† श्रीरामकृष्ण देव की भतीजी।

‡ श्रीरामकृष्ण देव के भानजे।

उनकी बनायी कोई चीज चखी और कहा, "हृदू, जिसने यह बनाया है, वह विशेषज्ञ है।" फिर मेरी बनायी कोई चीज खाते हुए उन्होंने कहा, "और इसे अनाड़ी ने बनाया है।" इस पर हृदय ने कहा, "सो तो ठीक, पर अनाड़ी पास है और उसे बुलाने भर की जरूरत है, जबकि विशेषज्ञ बड़ा महँगा है और हरदम उपलब्ध नहीं है। अनाड़ी तो सब समय तुम्हें सुलभ है।" ठाकुर बोले, "ठीक कहते हो, वह हरदम सुलभ है।"

एक दिन दक्षिणेश्वर में ठाकुर ने मुझसे नरेन * के लिए कोई अच्छी चीज पकाने के लिए कहा। मैंने मूँग दाल और चपातियाँ बनायीं। भोजन के बाद उन्होंने नरेन से पूछा, "रसोई कैसी लगी ?" नरेन बोला, "अच्छी ही थी, रोगी के पथ्य के समान अच्छी !" तब ठाकुर ने मुझसे कहा, "उसके लिए तुमने यह क्या बनाया ? अगली बार चना दाल और जरा मोटी चपातियाँ बनाना।" मैंने वैसा ही किया। नरेन खाकर बड़ा सन्तुष्ट हुआ था।

आदर्श पति

ठाकुर कहा करते, "उसका नाम सारदा है, वह सरस्वती है, इसीलिए अपने को सजाना पसन्द करती है।" एक दिन वे हृदय से बोले, "जाकर देख तो, तेरी तिजोरी में कितना पैसा है ? उसके लिए कंगन का एक सुन्दर सा जोड़ा बनवा दे।" उस समय वे बीमार थे, फिर भी उन्होंने तीन सौ रुपये खर्च करके कंगन बनवा दिये। वे

* नरेन्द्रनाथ, जो स्वामी विवेकानन्द के नाम से विख्यात हुए।

तो स्वयं पैसे को छूते भी नहीं थे ।

मेरी माँ को दुःख हुआ करता—"मैंने अपनी सारदा का ब्याह किस पागल से कर दिया है कि वह साधारण गृहस्थी का जीवन भी नहीं भोग पा रही है, न उसके कोई बच्चे ही हो सकते हैं और न वह माँ-माँ की पुकार ही सुन सकती है ।" एक दिन जब ठाकुर ने यह सुना, तो वे उनसे बोले, "माताजी, दुःख न करें, आप देखेंगी कि आपकी बेटी के इतने बच्चे होंगे कि उसके कान माँ-माँ की पुकार सुनकर दुखने लगेंगे ।" उन्होंने ठीक ही कहा था । जो कुछ उन्होंने कहा, सब सही निकला है ।

ठाकुर ईश्वर को छोड़ और कुछ नहीं जानते थे । जब मैंने उनसे पूछा कि षोड़शी पूजा के समय आपने जिन साड़ियों, शंख की चूड़ियों और अन्य चीजों के साथ मेरी पूजा की थी, उन सबका क्या करूँ, तो उन्होंने थोड़ा सोचकर कहा, "देखो, तुम वह सब अपनी माँ को दे सकती हो,"—तब मेरे पिता जीवित थे—"पर सावधानी रखना कि उन चीजों को देते समय तुम उन्हें अपनी स्वयं की माँ के रूप में न देख जगन्माता के रूप में देखना ।" मैंने वैसा ही किया । उनकी शिक्षा ही ऐसी थी ।

श्रीरामकृष्ण का बर्ताव और उनकी विचारशीलता

ठाकुर का बर्ताव मेरे प्रति कितना कोमल था ! उन्होंने कभी एक शब्द ऐसा न कहा, जिससे मुझे चोट पहुँचे । एक दिन दक्षिणेश्वर में मैं उनका भोजन लेकर उनके कमरे में गयी । मुझे लक्ष्मी समझकर उन्होंने 'तू'

कहकर सम्बोधित कर मुझसे कहा, "दरवाजा लगाती जा।" मैं बोली, "ठीक है।" मेरी आवाज सुनकर वे चौंक उठे और चिल्ला पड़े, "अरे, तुम हो! मैंने तो सोचा था कि लक्ष्मी है। बुरा मत मानना।" मैं बोली, "इससे क्या हुआ?" उन्होंने कभी मेरे प्रति अनादर का भाव नहीं दर्शाया, वे तो मेरी सुविधा के लिए हरदम अत्यन्त सचेत रहते थे।

एक दिन वे पटसन के कुछ लच्छे खरीद लाये और मुझसे बोले, "इनको बटकर मेरे लिए छीके बना दो। लड़कों के लिए मैं मिठाई और लूचियाँ रखना चाहता हूँ।" मैंने उनके लिए छीके बना दिये और जो बाकी रद्दी टुकड़े बचे थे, उनसे एक तकिया बना लिया। मैं टाट के टुकड़े पर चटाई बिछा लेती और उस तकिये को सिर के नीचे रख सो जाती। आजकल इन बढ़िया गद्दों और तकियों पर सोने से जैसी नींद आती है, तब के दिनों में इससे कोई कम अच्छी नहीं आती थी। मुझे तो कोई अन्तर ही नहीं लगता।

(क्रमशः)

❖

श्रेष्ठतम जीवन का पूर्ण प्रकाश है आत्मत्याग, न कि आत्माभिमान।

—स्वामी विवेकानन्द

प्रश्न – भगवद्दर्शन का क्या तात्पर्य है ? उसका जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

— डा० मणीन्द्र बोस, पटना

उत्तर – भगवद्दर्शन मन की एक अवस्था है, जिसमें जाग्रत् मन की सारी हलचल समाप्त हो जाती है। हम सामान्यत: तीन अवस्थाओं का उपभोग करते हैं। एक तो यह 'जाग्रत्' अवस्था है; इसमें मन अत्यन्त चंचल बना रहता है। दूसरी अवस्था/'स्वप्न' की है। इसमें केवल मन का ही संसार हमारे सामने रहता है। जाग्रत् में शरीर और मन दोनों चंचल होते हैं, क्रियाशील बने रहते हैं। स्वप्न में शरीर सोया रहता है, पर मन अपने संसार का ताना-बाना बुनता रहता है। इस अवस्था में मन की चंचलता जाग्रत् अवस्था की अपेक्षा अधिक होती है और इसमें संयम का अभाव भी पूर्वापेक्षा अधिक होता है। तीसरी अवस्था है 'सुषुप्ति' की—गाढ़ी नींद की। इसमें शरीर के साथ साथ मन भी सा जाता है। यद्यपि इस अवस्था में भी मन की हलचल शान्त हो जाती है, पर यह भगवद्दर्शन की अवस्था नहीं है। भगवद्दर्शन में मन शान्त होने के साथ साथ जागता भी रहता है, जबकि सुषुप्ति में वह सोया रहता है। सोकर निश्चल हो जाना और बात है तथा जागकर निश्चल रहना और बात। जागकर निश्चल रहने की

अवस्था को ही चतुर्थ या 'तुरीय' अवस्था कहकर पुकारा गया है। यही भगवद्दर्शन की भी अवस्था है।

यह चतुर्थ अवस्था अन्य तीनों अवस्थाओं की आधारभूत सत्ता है। जैसे सागर के वक्ष पर बुलबुले, लहरें और तरंगें उठा करती हैं तथा सागर ही बुलबुलों, लहरों और तरंगों की आधारभूत सत्ता है, वैसे ही तुरीय या चतुर्थ अवस्था के वक्ष पर ये तीनों अवस्थाएँ एक के बाद एक उठा करती हैं। तीनों अवस्थाएँ एक दूसरे का तो बाध करती हैं, पर चतुर्थ अवस्था का नहीं। इस चौथी अवस्था को प्राप्त करना ही भक्ति की भाषा में 'भगवद्दर्शन' है, ज्ञान की भाषा में 'आत्म-साक्षात्कार' और योग की भाषा में 'द्रष्टा आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थान'। यह तुरीय अवस्था रूप और गुण से परे है। वह निर्विकल्प की स्थिति है।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि 'भगवद्दर्शन' कहने से तो किसी रूप का बोध होता है, अतः तुरीय की अवस्था को भगवद्दर्शन के नाम से कैसे पुकारा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि जैसे बर्फ जल से भिन्न होती हुई भी तत्त्वतः उससे अभिन्न है, इसी प्रकार सगुण-साकार निर्गुण-निराकार से भिन्न होता हुआ भी वस्तुतः अभिन्न है। भक्त अपनी शुद्ध भावना से उस निर्गुण-निराकार को रूप धारण करने के लिए बाध्य कर देता है। श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे कि जैसे जल शीतलता के कारण जमकर हिम का रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार भक्त की भक्ति की शीतलता से वह निर्गुण-निराकार जमकर सगुण-साकार हो जाता है। ऐसे सगुण-साकार ईश्वर का दर्शन ही वास्तव में भगवद्दर्शन का असल तात्पर्य है।

मन के चचल रहते भगवद्दर्शन सम्भव नहीं। सरोवर का जल यदि विक्षुब्ध हो, तो तलहटी की चीजें विकृत दीख पड़ती हैं। उन चीजों के अपने स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता, पर हिलती-डुलती जलराशि के कारण वे टेढ़ी-मेढ़ी दिखायी देती

हैं। जल यदि शान्त हो जाय, तो वे जैसी हैं वैसी ही दिखने लगती हैं। इसी प्रकार, मनरूपी जल के चंचल होने के कारण वह सर्वानुस्यूत, सर्वाधार, स्थिर, कूटस्थ आत्मतत्त्व विकृत-सा दिखायी पड़ता है। पर जब मनोजल शान्त हो जाता है, तो आत्मतत्त्व अपने ही स्वरूप में प्रकट हो जाता है। यही वह चौथी अवस्था है, जिसका उल्लेख और विवेचन हमने ऊपर किया है। भक्त अपनी भावना से इस निराकार-निर्गुण ज्योतिर्मय अरूपराशि के वक्ष पर एक तेजोमय, भावमय रूप खड़ा कर लेता है। अरूप तत्त्व 'आत्मा', 'ब्रह्म', 'शुद्धचैतन्य' आदि नामों से सम्बोधित होता है और सरूप तत्त्व 'भगवान्' की संज्ञा से अभिहित होता है। तुरीय की चतुर्थ अवस्था में पहुँच जाना अरूप तत्त्व का ज्ञानात्मक बोध है और सरूप तत्त्व का भावात्मक दर्शन। अरूप तत्त्व के ज्ञानात्मक बोध को आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, कैवल्यमुक्ति, निर्विकल्प समाधि आदि नामों से पुकारते हैं और सरूप तत्त्व के भावात्मक दर्शन को भगवद्दर्शन या सविकल्प समाधि की संज्ञा देते हैं।

जब व्यक्ति को भगवद्दर्शन होता है, तो उसकी समूची चेतना को एक नया आयाम प्राप्त हो जाता है; वह अनित्य सत्य की भूमिका से नित्य सत्य की भूमिका पर उठ आती है। इस अवस्था में एक अनिर्वचनीय आनन्द-ऊर्मि सतत खेलती रहती है और हम मानसिक दुर्बलताओं से ऊपर उठकर मन के स्वामी बन जाते हैं। आज मन हमारा स्वामी बना हुआ है, वह हमें इच्छानुसार चलाता है, कई बार न चाहते हुए भी हम मन के कहने में आ जाते हैं। भगवद्दर्शन होने पर मन हमारे नियंत्रण में आ जाता है और उसे हम अपनी इच्छानुसार चलाने लगते हैं। दर्शन की भाषा में कहें, तो हम जीवन्मुक्त हो जाते हैं तथा सदा के लिए आवागमन के चक्कर से छूट जाते हैं।

●

आश्रम समाचार

अकाल सेवा कार्य

हमने 'विवेक-ज्योति' के पिछले अंक में यह सूचित किया था कि आपका यह रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर छत्तीसगढ़ में पड़े भयानक अकाल के सन्दर्भ में अकाल-पीड़ितों के लिए यथाशक्ति सेवा-कार्यों का संचालन कर रहा है। हमने यह भी बताया था कि आश्रम की ओर से रायपुर जिले के अन्तर्गत महासमुन्द तहसील में महानदी के तीर पर घोड़ारी घाट में ७ अक्तूबर, १९७४ से एक सेवा-केन्द्र खोला गया है, जिसके माध्यम से मुढ़ेना नामक गाँव में ११ एकड़ विस्तार का एक तालाब-निर्माण-कार्य हाथ में लिया गया तथा रबी फसल की सिचाई के लिए महानदी की एक धारा को अस्थायी तौर पर बाँधकर ५ मील दूर ले जाया गया। जरूरतमन्द किसानों को गेहूँ के बीज भी बाँटे गये। इस बीच अकाल-पीड़ितों को ६६७ घूसे-कम्बल और ४९ रजाइयाँ बाँटी गयीं। इस प्रकार, आश्रम के इस 'अकाल-सेवा केन्द्र' ने पीड़ितों के बीच १८०२४ किलो अनाज, २३०८ किलो आलू-शकरकन्द आदि, ७१६ घूसे, कम्बल और रजाइयाँ और ४१३ नये-पुराने वस्त्र बाँटे हैं। इससे ५७ गाँवों के १०३०२ अशक्त और निराश्रित वयस्क, ४९३१ बच्चे तथा ३२५१ कार्यक्षम मजदूर लाभान्वित हुए हैं। २८ फरवरी, १९७५ तक इस कार्य पर आश्रम का यह सेवा-केन्द्र ४०,०००) से भी अधिक राशि व्यय कर चुका है।

मार्च महीने से आपके इस आश्रम ने दुर्ग जिले में भी एक 'अकाल सेवा केन्द्र' खोला है। दुर्ग जिले का पाटन विकासखण्ड अत्यधिक अकालग्रस्त है। आश्रम के सचिव स्वामी आत्मानन्द ने अपने सहयोगियों के साथ इस क्षेत्र का दौरा किया और पाटन क्षेत्र में बसे औंरी ग्राम को अपने सेवा-केन्द्र के लिए चुना। तद-नुसार ५ मार्च से औंरी-स्थित इस सेवा-केन्द्र ने भी अपनी सेवाएं

प्रारम्भ कर दी हैं। इसके माध्यम से फिलहाल २२ गाँवों के ३०६ अशक्तों और अपाहिजों को राशन देने की व्यवस्था की गयी है। प्रति व्यक्ति को राशन में प्रतिदिन ३०० ग्राम चावल + ५० ग्राम दाल + नमक + मिर्च + प्याज/आलू दिया जाता है। साधनों के अनुसार धीरे धीरे कार्यक्षेत्र का और भी विस्तार किया जायगा।

अधिक संकटपूर्ण दिन तो अभी आने के हैं। इन दोनों सेवा-केन्द्रों को कम से कम आगामी जुलाई माह तक चलाना पड़ेगा। पर यह सब उपलब्ध होनेवाले साधनों पर निर्भर करता है। इन दोनों केन्द्रों के संचालन पर व्यय-भार भी अधिक होगा। अतएव हम आप सबसे हार्दिक अनुरोध करते हैं कि इस पुनीत सेवा-कार्य के लिए यथाशक्ति दान देकर इस संकट की घड़ी में कर्तव्य-पूर्ति के महान् दायित्व में हमारा हाथ बटायें।

धन मनीआर्डर या चेक द्वारा 'सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)' के पते पर भेजकर रसीद प्राप्त की जा सकती है।

•

रामकृष्ण मिशन समाचार

रामकृष्ण मिशन होम ऑफ सर्विस, वाराणसी

संक्षिप्त रिपोर्ट और अपील

'रामकृष्ण मिशन होम ऑफ सर्विस' का प्रारम्भ वाराणसी की पावन भूमि में सन् १९०० ई० में युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों से अनुप्राणित कुछ निःस्वार्थ, लगनशील युवकों द्वारा किया गया था। 'शिवज्ञान से जीवसेवा' के मंत्र से लघु रूप में शुरू किया गया यह केन्द्र आज समस्त आधुनिक उपकरणों से युक्त १८६ शय्यावाले विशाल चिकित्सालय में परिणत हो गया है और सुदीर्घ ७४ वर्षों से बिना जाति, पन्थ या धर्म के भेदभाव के रोगी-नारायणों की सेवा करता चला आ रहा है। इसकी वर्तमान गतिविधियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) स्त्री-पुरुष दोनों के लिए १८६ शय्याओं का एक इनडोर जनरल अस्पताल--यहाँ ५०% से भी अधिक रोगी पूरी तरह से निःशुल्क चिकित्सा पाते हैं। इसमें मेडिकल, सर्जिकल और आँखों के लिए अलग अलग वार्ड हैं तथा सभी उपकरणों से युक्त दो आपरेशन थियेटर हैं। १९७३ में लगभग ३००० व्यक्तियों की चिकित्सा की गयी।

(२) बहिरंग रोगियों के लिए धर्मार्थ एलोपैथिक और होमियोपैथिक औषधालय---एलोपैथिक औषधालय में मेडिकल, सर्जिकल, आँख, नाक-कान-गला दाँत, एक्स-रे और फीजियो-थिरैपी विभाग हैं और साथ ही क्लिनिकल एवं पैथॉलॉजिकल लेबोरेटरी भी। १९७३ में इन औषधालयों द्वारा २,२२,७२० रोगियों की चिकित्सा की गयी।

(३) दो अपंग-गृह --एक पुरुषों के लिए और दूसरा, वृद्ध एवं अपाहिज महिलाओं के लिए। वर्तमान में पुरुष-अपंग-गृह में २० व्यक्ति हैं और महिला-अपंग-गृह में २६।

(४) साधनहीन और पीड़ित लोगों के लिए वस्त्र एवं कम्बल वितरण तथा नगद सहायता की व्यवस्था।

अपनी उपर्युक्त गतिविधियों के लिए 'होम ऑफ सर्विस' को मुख्य रूप से उदारचेता व्यक्तियों के दान पर निर्भर रहना पड़ता है। कुछ वर्षों से कीमतों के अत्यन्त बढ़ जाने तथा धनाभाव के कारण इन समस्त गतिविधियों को सुचारु रूप से चलाना कठिन से कठिनतर होता जा रहा है। फलस्वरूप संस्था को ३१ मार्च १९७४ तक २ लाख ४९ हजार ३९९ रुपये एवं ७: पैसे का 'डेफिसिट' सहना पड़ा है। ऐसी स्थिति में संस्था के सचिव ने धर्मप्राण एवं दानी व्यक्तियों से आर्थिक सहायता की अपील की है, जिससे वाराणसी की पुण्य भूमि में निर्धन और असहाय व्यक्तियों की सेवा समुचित रूप से की जा सके। चेक या ड्राफ्ट **'सचिव, रामकृष्ण मिशन होम ऑफ सर्विस, लक्सा, वाराणसी-१ (उ. प्र.)'** के नाम और पते पर भेजकर रसीद प्राप्त की जा सकती है।

अकाल-पीड़ित अपंगों और अनाश्रितों के बीच कम्बल-वितरण के दो और दृश्य